साधन-चन्द्रिका

HERMIT'S
COLLECTION

॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

Hindustani Academy Hindi Library 2186 28/2/

साधन-चन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा भारतधर्मसिण्डिकेट लिमिटेड्के लिये प्रकाशित।

काशी।

श्रीयुत एच्. एन्. बागचीके प्रबन्धसे
भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित।

संवत् १९८० विक्रमीय।

प्रथमबार १०००] सन् १९२३ ई० [मूल्य १।।।) रुपये।

॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

साधन-चन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशक विभाग
द्वारा भारतधर्मसिण्डिकेट लिमिटेड्के
लिये प्रकाशित ।

काशी ।

श्रीयुत एच्. एन्. बागची द्वारा
भारतधर्म प्रेसमें मुद्रित ।

संवत् १९८० विक्रमी ।

प्रथमवार १०००] सन् १९२३ ई० [मूल्य १॥।) रुपये ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके सभ्यगण और मुखपत्र।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्यालय काशीसे एक हिन्दी भाषाका और दूसरा अंग्रेजी भाषाका, इस प्रकार दो मासिकपत्र प्रकाशित होते हैं एवं श्रीमहामण्डलके अन्यान्य भाषाओंके मुखपत्र श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय कार्यालयोंसे प्रकाशित होते हैं, यथाः—फिरोजपुर (पञ्जाब) के कार्यालयसे उर्दू भाषाका मुखपत्र, कानपुरके कार्यालयसे हिन्दीभाषाके मुखपत्र।

श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं, यथाः—स्वाधीन नरपति और प्रधान प्रधान धर्माचार्यगण संरक्षक होते हैं,। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े जमींदार सेठ साहुकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं, विद्यासम्बन्धी कार्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्म्मकार्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल प्रान्तीयमण्डल और शाखासभाओंको धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्मप्रचार करने वाले साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पांचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं जो हिन्दुमात्र हो सकते हैं। हिन्दु कुलकामिनीगण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक सभ्या और साधारण सभ्या हो सकती हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय मण्डल, शाखासभा और संयुत सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषाका मासिकपत्र विना मूल्य दिया जाता है। नियमितरूपसे नियत वार्षिक चन्दा २॥) अढ़ाई रुपये देनेपर हिन्दू नरनारी साधारण सभ्य सकते हैं। साधारण सभ्योंको विना मूल्य मासिकपत्रिकाके अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारियोंको समाजहितकारी कोषके द्वारा विशेष लाभ मिलता है।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्यालय,

जगत्गञ्ज, बनारस।

प्रस्तावना।

शिक्षा ही मनुष्यत्वके विकाशका बीज मन्त्र है। शिक्षाविहीन मनुष्य-जीवन मनुष्यपद-वाच्य नहीं है। मनुष्योंमें मनुष्यत्वका जो बीज अपरिस्फुटरूपसे विद्यमान रहता, शिक्षासुधाके सिञ्चन-से वह अङ्कुरित होकर मनुष्यको क्रमशः मानवीय जीवनके उन्नत पद-पर प्रतिष्ठित कर देता है। इसीसे महर्षियोंने शिक्षाकी बड़ी महिमा गायी है; क्योंकि शिक्षा ही प्रत्येक जातिकी प्राणस्वरूप है।

जगत्में जितनी जातियाँ हैं, जातीय लक्ष्यकी विभिन्नताके अनु-सार उनकी मनः प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं। इसीसे प्रत्येक जातिकी शिक्षाके आदर्श विभिन्न देख पड़ते हैं। जिनकी प्रवृत्ति वाणिज्यकी ओर है उनका आदर्श वाणिज्यमूलक, जिनकी प्रवृत्ति शिल्पनैपुण्यकी ओर है उनका आदर्श शिल्पमूलक और जिनकी प्रवृत्ति राजनीतिकी ओर है उनका आदर्श राजनैतिक-भाव प्रधान रहेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? परन्तु उक्त शिक्षाओंका धर्महीन भौतिक विज्ञानोन्नतिके साथ दृढ़-सम्बन्ध होनेके कारण उनके द्वारा आत्माकी उन्नति नहीं हो सकती। आर्यजातिका प्राण 'धर्म' है; इस कारण उनकी प्रवृत्तिकी धारा सच्चिदानन्द महासागरकी ओर प्रवाहित हो रही है अतः जिस शिक्षाके मूलमें 'धर्म' नहीं है, आर्योंके मतसे वह शिक्षा जातिके लिये कल्याणप्रद नहीं हो सकती। आर्यजातिकी व्यावहारिक शिक्षामें भी धर्म्मभाव भरा हुआ है।

कालके प्रभावसे आर्यजातिसे धर्मशिक्षा उठी जा रही है। धर्म-हीन पाश्चात्य शिक्षाके विषमय फलसे आर्यजीवन प्राचीन आर्य आदर्शके द्वारा अनुप्राणित नहीं हो रहा है। स्कूल कालेजोंमें

कोमलमति बालक जो शिक्षा पाते हैं, उसमें धर्मशिक्षाका पूर्ण अभाव होनेके कारण, वे अपना जीवन आर्यादर्शके अनुसार नहीं बना सकते, वे प्रायः लक्ष्यभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और चरित्रभ्रष्ट होकर अपनेको तथा जातीय जीवनको यथार्थ उन्नतिके प्रशस्त पथसे बहुत दूर ले जा रहे हैं। सदाचारप्रतिपालन, पितृमातृभक्ति, सच्चरित्रता, ज्ञानार्ज्जन-स्पृहा, आस्तिकता, परार्थपरता, आध्यात्मिकता आदि आर्यजाति-सुलभ गुण धर्महीन शिक्षाके प्रभावसे आर्यसन्तानोंके हृदयसे क्रमशः लुप्त हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आर्यजातिको इस विपत्तिसे बचानेके लिये अतिशीघ्र समस्त विद्यालयोंमें धर्मशिक्षा देनेकी व्यवस्था तथा धर्मशिक्षाके उपयोगी ग्रन्थ और उन्हें पढ़ाने योग्य अध्यापक प्रस्तुत करना परमावश्यक होगया है।

हिन्दुजातिकी एकमात्र विराट् धर्म सभा श्रीभारतधर्म महामण्डल इस कार्यमें दत्तचित्त हो रहा है। उसने सनातन धर्म और आर्यविद्याओंके केन्द्रस्वरूप काशीधाममें उपदेशक महाविद्यालय खोला है, जिसमें स्कूल कालेजोंमें धर्मशिक्षा देने योग्य अध्यापक और सर्व साधारणमें धर्मप्रचार करने योग्य उपदेशक तैयार होते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मशिक्षाके उपयोगी कितने ही मौलिक ग्रन्थ हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें रचकर महामण्डलने प्रकाशित किये हैं, जिनके पाठसे सुलभतासे अपने धर्मके तत्त्व पाठकोंको हृदयङ्गम हो जाते हैं। स्कूल कालेजोंमें पढ़ाने योग्य भी कई छोटे बड़े ग्रन्थ महामण्डलके द्वारा विभिन्न भाषाओंमें निकले हैं और आवश्यकता तथा सुविधेके अनुसार निकलते जाते हैं। सन्तोषका विषय है कि श्रीमहामण्डलके पुरुषार्थसे धर्मशिक्षाके साधनोंका यह गुरुतर अभाव दूर हो रहा है।

स्कूलकी समस्त श्रेणियोंमें पढ़ाने योग्य धर्मपुस्तक प्रकाशित करनेके वाद कालेजमें पढ़ाने योग्य यह 'साधनचन्द्रिका' प्रकाशित

की जारही है। इसके सावधान पाठ द्वारा साधनाके सब तत्त्व अवश्य ही हृदयङ्गम हो सकेंगे। यदि धर्मपरायण देशके नेता, स्कूल कालेजोंमें इन पुस्तकोंकी पढ़ाईका विशेष रूपसे यत्न करें, तो श्रीभारतधर्म महामण्डल अपने परिश्रमको सफल समझेगा।

हिन्दुजातिकी जातीय उन्नति साधनके लिये एक स्वजातीय पुस्तकालय, एक स्वजातीय शास्त्रप्रकाशक विभाग, एक स्वजातीय प्रेस, तथा स्वजातीय मुखपत्र आदि स्थापनार्थ दस लक्ष रुपयेके मूलधनसे भारतधर्मसिण्डिकेट नामक जो एक लिमिटेड कम्पनी स्थापित हुई है, उसको ही श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डारने सब पुस्तकोंके छापने और बेचनेका भार सौंप दिया है। इस पुस्तकका कुछ लाभांश वह सिण्डिकेट दानभण्डारको नियमितरूपसे दिया करेगा।

इस पुस्तकका स्वत्वाधिकार, दीन-दरिद्र-दुःखियोंकी सहायताके हेतु श्रीमहामण्डल द्वारा स्थापित 'श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दान भण्डार' को अर्पित है।

काशीधाम।
गङ्गादशहरा
सं० १९८० वि०

निवेदक—

श्रीकवीन्द्रनारायण सिंह,
अध्यक्ष, श्रीभारतधर्ममहामण्डल।

साधनचन्द्रिका

की

विषय-सूची ।

॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

साधन-चन्द्रिका ।

अवतरणिका ।

साधना क्यों की जाय ? आस्तिक्यहीन भौतिक विज्ञानोन्नतिके दिनोंमें, यह प्रश्न साधारणतः अनेक लोगोंके हृदयोंमें उठता है । किन्तु इस प्रश्नमें रमणीयता यही है कि, इसका उत्तर पानेके लिये पुस्तकोंको उलटना पलटना नहीं पडता । हृदयके अन्तस्तलमें, शान्त होकर अन्वेषण करनेसे इस प्रश्नका उत्तर स्वतः ही मिलता है ।

हम संसारके सब प्रकारके भोगविलासोंमें एक प्रकारकी दुःख-की रेखाका अनुभव करते हैं । सब भावोंमें मालिन्यमय अभावकी छाया देखते हैं । कितने ही भोगसुखमें डूबे क्यों न रहें, उस अव-गाहनसे प्राणोंमें शान्ति नहीं आती ! तृष्णाके जलपानसे भी प्राणोंकी प्यास नहीं बुझती ! मानों अमृतकी प्राप्तिकी कामनासे, हृदयके अन्तस्तलसे वेगवती आकाङ्क्षाका उदय होता है । प्राण मानो चातकके समान अमृत पानके लिये इधर उधर भटकते हैं । यह अभाव कहाँसे आया और इसे कौन दूर करेगा ? इस प्रश्नके उत्तरके साथ ही साथ हम साधनाके प्रयोजनका उत्तर पा जाते हैं । जो स्वयं अपूर्ण, किन्तु भीतर पूर्णत्वका बीज धारण किये हैं एवं उसी पूर्णकी प्रेरणासे ही कर्मक्षेत्रमें विचरण करते हैं, उनके हृदयोंमें पूर्णको लाभ करनेकी इच्छा आप ही उदित होती है ।

संसारको धारण कर रहे हैं? इन सब बातों पर विचार करनेसे और सृष्टि लीला पर संयम करनेसे मनीषी महात्माओंको अवश्य ज्ञात होगा कि, मानों उपासनाकी अनन्त नदियां सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर प्रबल वेगसे बह रही हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि :—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार नदियां बहती हुई समुद्रमें मिलकर अपने पृथक् नाम और सत्ताको त्याग कर देती हैं उसी तरहसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष नामरूपमयी मायासे विमुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन हो जाया करते हैं।

ब्रह्मसागरके लिये यह तीर्थयात्रा केवल चेतन जगत्में ही नहीं, परन्तु जड़चेतनात्मक प्रकृतिके सर्व्वत्र यह भाव विद्यमान है। क्योंकि प्रत्येक चाञ्चल्यका लक्ष्य जब निश्चल होना है और प्रत्येक अशान्तिका लक्ष्य जब शान्ति प्राप्त करना है तो निखिल जगत्की अशान्ति शान्तिमय भगवान्के चरणकमलमें विलीन होनेके लिये ही होगी इसमें सन्देह क्या है। प्रकृति परिणामिनी और त्रिगुणतरङ्गमयी होनेसे सदा ही चञ्चला है, इसलिये प्रकृतिकी कोई वस्तु निश्चल और आत्यन्तिकी शान्तिसे युक्त नहीं है। यह शान्ति प्रकृतिसे परे, प्रकृतिराज्यके अधिकारसे अतीत विराजमान परमात्मामें ही है। इस लिये उसी शान्तिमय परमात्माका सान्निध्य प्राप्त करनेके लिये जो कुछ उपाय शास्त्रमें वर्णन किया गया है, उसे उपासना या साधना कहते हैं।

श्रीभगवान् सच्चिदानन्दके तीनों भावोंके सम्यक् परिज्ञान और उपलब्धिके लिये ही भगवद्वाक्यरूपी वेदमें कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डका वर्णन किया गया है। श्रीभगवान् सद्भाव,

चिद्भाव और आनन्दभावसे पूर्ण हैं। कर्म्मके साथ जगत्‌का सम्बन्ध रहनेसे निष्काम कर्म्मयोगके द्वारा अपनी सत्ताका विस्तार करते करते कर्म्मयोगी साधक श्रीभगवान्‌की विराट् सत्तामें अपनी सत्ताको विलीन करके उनके सद्भावको उपलब्ध कर सक्ते हैं। ज्ञानकाण्डके साथ परमात्माकी चित्सत्ताका सम्बन्ध रहनेसे ज्ञानी पुरुष ज्ञानके द्वारा अज्ञानको नष्ट करके परमात्माकी चित्सत्ताका अनुभव करसक्ते हैं। प्रकृत विषय उपासनाका है। वेदके उपासनाकाण्डके साथ परमात्माके आनन्दभावका सम्बन्ध है। परमात्मा आनन्दके रूप हैं। वेदमें कहा है किः—

"रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"
"आनन्दरूपं परमं यद्विभाति" "आनन्दं
ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"।

परमात्मा आनन्दरूप हैं, ब्रह्म आनन्दमय हैं, उनके आनन्दरूपके जाननेसे जीवका निखिल भय नष्ट होता है।

उसी आनन्दरूप भगवान्‌में ही संसारका सृष्टि-स्थिति-प्रलय है। वेदोंमें लिखा है किः—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्य-
भिसंविशन्तीति।

आनन्दसे ही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है, आनन्दके द्वारा ही समस्त संसारकी रक्षा होती है और उसी आनन्दमय परमात्मामें ही सकल जीवोंका लय होता है।

श्रीभगवान्‌की आनन्दसत्ता सर्व्वव्यापिनी होनेसे संसारमें जो कुछ रस है, सबके मूलमें वही आनन्द विद्यमान है। केवल विकाश और आधारके भेदसे उसमें तारतम्य प्रतीत होता है। श्रीभगवान् रसके सागर हैं। उसी रससिन्धुसे बिन्दु बिन्दु लेकर जीवजगत्

अखण्ड और एकरस है। जीव उसी आनन्दके अंशमात्रको भोग करता है। अद्वैत ब्रह्म-सिद्धिमें इस श्रौत सिद्धान्तको ही स्पष्ट करके लिखा गया है। यथाः—

विषयसुखमपि स्वरूपसुखान्नातिरिच्यते, विषयप्राप्तौ
सत्यामन्तर्मुखे मनसि स्वरूपसुखस्यैव
प्रतिबिम्बनात्स्वाभिमुखे दर्पणे मुखप्रतिबिम्बवत्।

विषयसुख स्वरूपके अतिरिक्त नहीं है। विषयभोगके समय अन्तर्मुखीन चित्तमें स्वरूप सुखका ही प्रतिबिम्ब पड़ता है; जैसा कि सामने रक्खे हुए दर्पणमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है।

किसी विषयके सामने आनेसे अन्तःकरण, तन्मात्रा और इन्द्रियोंके द्वारा उसमें लिप्त होकर सुख भोगता है। अब विचार करना चाहिये कि इस सुखका कारण क्या है? जगत्में देखा जाता है कि जिस विषयमें चित्त एकाग्र होता है उसीसे मनुष्यको आनन्द मिलता है। योगीको ध्यानमें आनन्द क्यों मिलता है? उनका चित्त ध्येय वस्तुमें एकाग्र होता है इसलिये। कविको प्राकृतिक शोभा देखनेसे आनन्द क्यों होता है? उनका चित्त प्रकृतिमाताके रूपसागरमें मग्न होजाता है इसलिये। मित्रको देखनेसे मित्रके चित्तमें आनन्द क्यों होता है? दोनों चित्त एक ही सुरमें बँधे हुए हैं इसलिये। जिसका जिस वस्तुपर राग है उसका उसीमें चित्त एकाग्र होनेसे उसीसे आनन्द मिलता है। अब देखना चाहिये कि चित्तके एकाग्र होनेसे आनन्द क्यों होता है? किसी गुण या किसी भावके अवलम्बनसे जब चित्त एकाग्र होता है तो उस समय अन्यान्य इन्द्रियोंका चाञ्चल्य नष्ट होकर उसी एक विषयमें चित्तकी एकरसता-प्राप्ति होती है और उस दशामें एकाग्र चित्तपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है। आत्मा जब आनन्दमय है तो उसके प्रतिबिम्बमें भी कुछ आनन्द है। जैसे सूर्य्यमें प्रकाश रहनेसे जल-प्रतिबिम्बित

सूर्य्यमें भी कुछ प्रकाश है। विषयीको विषयभोगके समय वही प्रतिबिम्बित सुख या छायासुख मिलता है। विषयी उसको ही भूलसे यथार्थ आनन्द समझकर प्रतारित होता है। क्या विषयमें सुख है ? नहीं। सुख हुआ, चित्त एकाग्र हुआ इसलिये। सुख हुआ, एकाग्र चित्तपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ा इसलिये। अतः सिद्धान्त हुआ कि सब सुखके मूलमें एक ब्रह्मानन्द ही है। विषयी-को विषय साक्षात् कोई सुख नहीं देसक्ता है, केवल चित्तको एकाग्र करनेसे प्रतिबिम्बित सुख देनेका निमित्त बनता है, विषयके अव-लम्बनसे चित्त एकाग्र होता है, एकाग्र चित्तमें आत्मा प्रतिबिम्बित होते हैं। सुख उसी प्रतिबिम्बका ही है। यह प्रकृतिके सम्बन्धसे छायासुखमात्र है। साक्षात् चिदानन्द नहीं है।

पहले ही कहा गया है कि समस्त संसारकी प्रवृत्ति और गति, शान्ति और सुखके लिये है। संसारमें जो कुछ कार्य्य होता है सबके मूलमें सुखेच्छा ही विद्यामान है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि:—

> यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति, नाऽसुखं
> लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति।

सुखप्राप्तिकी इच्छासे ही जीव हरेक कार्य्यमें प्रवृत्त होता है। वह सुख वास्तवमें ब्रह्मानन्द है। आनन्दमय परमात्माके व्यापक होनेसे समस्त जीवोंमें उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। अन्त-र्निहित वही आनन्दसत्ता जीवको हरेक कार्य्यमें प्रवृत्त करती है। संसारमें समस्त जीव रातदिन उसी अन्तर्निहित निर्विकार शाश्वत ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये घूमरहे हैं। परन्तु अविद्याके वशवर्त्ती होनेसे जीव उस नित्यानन्दको जिसके लिये उसके हृदयमें प्रेरणा भरीहुई है, भूलकर छायासुखरूपी विषयसुखको ही नित्यानन्द समझ लेता है, और उसीमें बँधजाता है। अज्ञानके कारण जीवको

दोनोंमें भेद प्रतीत नहीं होता है। जिस प्रकार कस्तूरीमृग अपने नाभिस्थित कस्तूरीके गन्धसे उन्मत्त होकर जङ्गलमें उसको ढूँढ़ता रहता है, उसे मालूम नहीं पड़ता है कि गन्ध उसके भीतरसे ही आरही है, बाहर कहींसे नहीं, उसी प्रकार जीव मायाके भूलभुलैये-में आकर नहीं समझ सका कि वह आनन्द,—जिसके लिये वह नित्य घूमरहा है, उसकी स्थिति भीतरमें ही है, कहीं बाहर नहीं है। इस प्रकारसे भीतरके नित्यानन्दको भूलकर जीव बाहर उस प्रेमके लिये भटकता रहता है और विषयमें उस नित्यानन्दका अन्वेषण करता है। परन्तु जो सुख असलमें है वह छायामें कैसे आसक्ता है। जीवके हृदयकी वासना, भीतरकी प्रेरणा जब ब्रह्मानन्दके लिये है तो उसको विषयसुखमें शान्ति और तृप्ति नहीं होसकी है। क्योंकि ब्रह्मानन्द नित्य है और विषयसुख चञ्चला प्रकृतिके सम्ब-न्धसे होनेके कारण अनित्य है। ब्रह्मानन्दमें निरवच्छिन्न सुख और विषयसुखमें त्रिगुणमयी प्रकृतिके सम्बन्ध रहनेसे दुःख मिला हुआ है। मन्दाकिनीके पवित्र जलमें स्नान करनेके लिये जिनके हृदयकी वासना है, मिथ्या मृगजलमें स्नान करनेसे उनकी शान्ति कैसे होसक्ती है। इसलिये नित्यानन्दप्रयासी जीव दुःखपरिणामी विषयसुखमें बद्ध होकर सुखके बदलेमें दुःख ही भोग करता रहता है। विष्णुपुराणमें लिखा है कि:—

> यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
> तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

जीव जितना ही विषयके सुखमें चित्तको लगाता है उतना ही उसके हृदयमें दुःखका बाण विद्ध होता है। श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहा है कि:—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श होनेसे जो कुछ सुख होता है वह सब दुःखका ही देनेवाला है। क्योंकि वह सब नाशवान् और परिणाम-दुःखद सुख है, इसलिये विचारवान् पुरुषोंको उसमें रत नहीं होना चाहिये।

इस प्रकारसे जीव सुखकी इच्छासे विषयोंमें मुग्ध होकर जब सत्य सुखके बदलेमें दुःख ही भोगता रहता है तो उसे वैषयिक सुखकी अनित्यता प्रतीत होने लगती है। क्योंकि वैषयिक सुख यदि सत्य होता तो उसमें दुःख क्यों? परिणाम क्यों? अनित्यता क्यों? सत्य वस्तुकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरता नहीं हुआ करती है। अतः यह सुख यथार्थ आनन्द नहीं है कि जिसके लिये जीवके चित्तमें प्रेरणा हो रही है और जीव जिसको रात दिन अन्वेषण कर रहा है। सत्यके प्रयासी मिथ्यामें नहीं रह सकते, आनन्दके पुत्र निरानन्दमय विषय सुखमें शान्तिलाभ नहीं कर सकते, इसलिये जीवको जब स्त्री पुत्र कुटुम्ब और धन सम्पत्तिमें अन्वेषण करने पर भी यथार्थ सुख लाभ नहीं होता है, तो जीव उससे चित्तको हटा कर नित्यानन्दकी ओर चित्तको लगाता है और ऐसा विचार भी करता है कि जब विषयमें सुख नहीं है, तो सुख आत्मामें ही है। विषय केवल चित्तको एकाग्र करके अन्तःकरण पर आत्माके प्रतिबिम्ब लानेका कारण बनता है, सुख आत्माके प्रतिबिम्बमें ही है, विषयमें नहीं, तब क्यों ऐसा विषयरूपी कारण बनाया जाय कि जिसके साथ हज़ारों प्रकारके दुःख लगे हुए हैं और जो शरीर मन प्राण और आत्माका नाश कर देता है। जब चित्तकी शान्तिसे ही आत्मानन्द मिलता है तो विषयके निमित्तसे शान्त न करके श्रीभगवान्के चरण-कमलमें ही मनको क्यों न शान्त करें; उससे शान्तिजनित आत्मानन्द भी मिलेगा और विषयके साथ सम्बन्ध न होनेसे तज्जन्य परिणाम ताप आदि दुःख नहीं होगा। इसप्रकारके

विचारसे जीव वैषयिक सुखकी ओरसे चित्तको हटाकर भगवत्सान्निध्य प्राप्तिके लिये जो कुछ पुरुषार्थ करता है उसीका नाम उपासना है। छान्दोग्योपनिषद्में इस विषय पर एक सुन्दर मन्त्र है। यथाः—

> स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।

जिस प्रकार व्याधके हाथमें सूतके द्वारा बँधा हुआ पक्षी इधर उधर उड़जानेके लिये चेष्टा करने पर भी जब असमर्थ होजाता है तो बन्धनके स्थानमें ही आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार जीव मायाके द्वारा रचे हुए भ्रमजालमें फँसकर अन्तरात्माके साथ जो प्रेमकी डोरी बँधी हुई है उसको तोड़नेके लिये प्रयत्न करता है, परन्तु जब समस्त इन्द्रियोंके विषयमें अन्वेषण करने पर भी उसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती है, तो अन्तमें समस्त प्रेम और आनन्दके मूल परमात्माकी ही शरणमें जाकर उपासनाके द्वारा शान्ति प्राप्त करता है। अब नीचे इसी उपासना या साधनाका संक्षिप्त विज्ञान कहा जाता है।

सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार परमात्माके तीन स्वरूप वर्णन किये गये हैं। यथाः—ब्रह्म, ईश और विराट्। श्रुतिमें लिखा है किः—

> सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

परमात्माके चार पाद हैं, उनमेंसे एक पादमें सृष्टि होती है और तीन पाद सृष्टिसे बाहर हैं। परमात्माके जिस भावमें सृष्टि नहीं है, जिसके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं जो भाव मायासे अतीत अव्यक्त और अवाङ्मनसगोचर है, उसको ब्रह्मभाव या निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है।

परमात्माके जिस भावके साथ मायाका सम्बन्ध है अर्थात् जिस भावमें उन्हींके ईक्षणसे शक्तिमती माया संसारके सृष्टि स्थिति प्रलयको करती है, प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त उस भावको ईश्वर कहा जाता है और परमात्माका तीसरा भाव विराट् है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय उनका सर्वव्यापी शरीर है उसे विराट् कहते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है यथाः—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।"

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।"

उनके पाणि पाद, उनके चक्षु सिर या मुख सर्वत्र हैं, समस्त विश्व उनका ही रूप है, इत्यादि। यह सब विराट् मूर्तिका वर्णन है।

परमात्माके इन तीनों स्वरूपोंकी उपासनाके लिये शास्त्रमें क्रिया-सिद्धांशरूपसे चार योग बताये गये हैं। यथाः—मन्त्रयोग, हठ-योग, लययोग और राजयोग। ब्रह्मका निराकार और व्यापकरूप परिच्छिन्न और चञ्चलबुद्धि मनुष्योंके लिये प्रथम दशामें धारणाके अन्तर्भूत नहीं हो सकता है, इसलिये प्रथम तीन प्रकारके योगोंमें चित्तको स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर उन्नत करनेकी विधि बताई गई है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्तिका ध्यान किया जाता है। ब्रह्मकी निर्गुण मूर्ति कल्पनासे अतीत है, इसलिये महर्षियोंने समाधियुक्त बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्रकृतिके साथकी विविध लीलाओंको देखकर उन लीलाओंके भावोंको मूर्तिके रूपमें प्रथम दशाके साधकोंके कल्याणके लिये प्रकट किया है। यह बात स्वतःसिद्ध है कि याव-न्मात्र रूप भावका ही स्थूल विकाश है। दृश्य जगत् भावजगत्का ही विस्तारमात्र है। इसलिये भगवद्भावोंके ही अवलम्बनसे जो रूपोंकी कल्पना महर्षियोंने की है वह ही मन्त्रयोगकी ध्येयवस्तु है। यह कल्पना मिथ्या मानस कल्पना नहीं है, परन्तु सत्य भगवद्भावोंके

अनुसार शुद्धबुद्धिकृत सत्यकल्पना है। जैसा कि शास्त्रमें कहा है कि:-

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥

निर्विशेष परब्रह्मके साधनमें असमर्थ प्रथम दशाके साधकोंके लिये कृपा करके महर्षियोंने सगुण मूर्तिका साधन बताया है। साकार मूर्ति पर चित्तको एकाग्र करते करते मन वशीभूत होजाने पर निराकारके साधनके लिये अधिकार प्राप्त होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार ईश्वरकी पांच मूर्तियोंकी कल्पना की गई है, जिसको सगुण पञ्चोपासना कहते हैं। यथाः-शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य्य और गणेश। ये पांच ईश्वरकी ही मूर्तियाँ हैं, केवल पञ्च तत्त्वोंके विचारसे एक ईश्वरकी पञ्च मूर्तियाँ हैं। इन सब तत्त्वोंका विचार और भावके अनुसार मूर्तिकल्पनाका रहस्य "मन्त्रयोग" नामक अध्यायमें वर्णन किया जायगा।

दूसरा अधिकार यह है कि साधकका चित्त हठयोगोक्त ज्योतिर्ध्यानमें लगाया जाता है। ज्योति भगवान्‌की चित्सत्ताका स्थूल प्रकाश और मूर्तिसे सूक्ष्म है। इसलिये ज्योतिर्ध्यानके द्वारा साधकका चित्त सूक्ष्म राज्यकी ओर अग्रसर होता है।

तीसरे अधिकारमें लययोगोक्त बिन्दुध्यानमें चित्तको लगाया जाता है। यह बिन्दु सात्त्विक प्रकृतिका प्रकाश है, जो कि लययोगकी उन्नत दशामें साधकको दिखने लगता है और वह उसीमें चित्तको एकाग्र करके और भी सूक्ष्मतर राज्यमें प्रवेश लाभ करता है।

इसी प्रकारसे इन योगोंके द्वारा चित्तकी उन्नति होनेपर तब निर्गुण ध्यानमें अधिकार हुआ करता है। उस समय साधक ब्रह्म, ईश्वर और विराट् इन तीनोंपर ही राजयोगोक्त साधनोंके द्वारा

चित्तको लय करके उपासनाके परम लक्ष्य भगवत्सान्निध्य लाभको प्राप्त करता है। निर्विकल्प समाधिसिद्ध योगी जन्म-मरण रूपी संसारचक्रसे मुक्त होता है। इन सब साधनोंका रहस्य चारों योगोंके स्वतन्त्र स्वतन्त्र अध्यायोंमें पूर्णतया बताया जायगा। इस प्रकारसे निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चोपासना और इनके क्रिया-रूपसे चार प्रकारके योग साधन, ये उपासनाके छः अङ्ग हुए।

इसके अतिरिक्त उपासनाके और भी तीन अङ्ग हैं। यथाः— अवतारोपासना, ऋषि देवता तथा पितरोंकी उपासना और प्रेतादि निकृष्ट विभूतियोंकी उपासना। मनुष्योंकी प्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी है। उपासना उस निम्नगामिनी प्रकृतिकी गतिको बदल कर ऊपरकी ओर ले जानेके लिये विधि बताती है। परन्तु प्रकृति एकाएक ऊपर नहीं जा सकती। अतः उपासनाके विविध अङ्ग बताये गये हैं, जिनके अवलम्बनसे साधक क्रमशः अपनी प्रकृतिको सात्त्विक बनाता हुआ ऊपरकी ओर लेजासकता है। इसलिये स्वभावतः तामसिक प्रकृतिके मनुष्यके लिये प्रेतादिकोंका भी साधन बताया गया है। जड़ प्रकृति चेतन शक्तिके विना काम नहीं कर सकती। यह चेतन शक्ति प्रकृतिके सात्त्विक और तामसिक राज्यके विचारसे दो प्रकारकी है। सात्त्विक प्रकृति पर अधिष्ठात्री चेतनशक्ति दैवीशक्ति कहलाती है और तामसिक प्रकृतिपर अधिष्ठात्री शक्ति आसुरीशक्ति कहलाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में लिखा है किः—

> द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः
> कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः।

प्रजापतिकी सृष्टिमें दो शक्तियाँ काम करती हैं, देव और असुर। उनमेंसे जीवप्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी होनेसे असुरोंकी शक्ति अधिक और देवताओंकी शक्ति कम हुआ करती है। प्रेतादि

निकृष्ट विभूतिगण इस तामसिक भूमिसे सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये कामनावाले तामसिक लोगोंके आराध्य हैं। परन्तु देवता ऋषि और पितरोंकी उपासना उच्चकोटिकी है। पहिले ही कहा गया है कि जड़वस्तु चेतन शक्तिके सञ्चालनसे ही नियमित कार्य्य कर सकती है। इसलिये जड़ प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंके सञ्चालनके लिये बहुधा ईश्वरीय शक्ति नियामक रूपसे संसारमें कार्य्य करती है। प्रकृतिके विभाग असंख्य होनेपर भी उन्हें प्रधान तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः-आध्यात्मिक विभाग, आधिदैविक विभाग और आधिभौतिक विभाग। प्रथम विभागके साथ ज्ञानका, दूसरे विभागके साथ कर्मका, और तीसरेके साथ स्थूल दृश्यका सम्बन्ध है। इन तीन विभागोंके सञ्चालन करनेवाली चेतनशक्ति ऋषि देवता और पितृ कहलाती है। ऋषिशक्ति आध्यात्मिक विभागकी, दैवीशक्ति आधिदैविक विभागकी, और पितृशक्ति आधि-भौतिक विभागकी सञ्चालक है। इनकी उपासना आसुरी शक्तिकी उपासनासे उन्नत तथा द्वितीय कोटिकी उपासना है। इन सब शक्तियोंका विशेष महिमावर्णन और इनकी पूजासे क्या क्या फल-की प्राप्ति होती है, सो आगेके अध्यायोंमें बताया जायगा।

अवतारोंकी उपासना उक्त दोनों उपासनाओंसे उन्नत तृतीय श्रेणीकी है। हिन्दू शास्त्रके सिद्धान्तानुसार संसारमें जो कुछ शक्तिका विकाश देखाजाता है वह सब ईश्वरकी ही शक्ति है। जड़वस्तुमें जड़शक्ति रूपसे और चेतनवस्तुमें चेतनशक्ति रूपसे ईश्वरकी सर्वव्यापिनी शक्ति प्रकट हुआ करती है। इसी शक्तिको कला भी कहते हैं। कलाका विकाश जीवभावके प्रथम विकाशसे लेकर अन्त तक है। जीवभावका प्रथम विकाश उद्भिज्ज योनिमें होता है। इसलिये उद्भिज्ज योनिमें एक कलाका विकाश बताया गया है। तदनन्तर स्वेदज कृमि कीट आदि योनियोंमें भगवान्की

शक्तिकी दो कलाओंका विकाश होता है। उसके बाद अण्डज योनिमें तीन कलाओंका विकाश और जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें चार कलाओंका विकाश होता है। जीव उन्नत होता हुआ मनुष्य योनिमें जब पहुँचता है तो उसमें पाँच कलासे लेकर आठ कला तकका विकाश देखनेमें आता है। साधारण मनुष्योंमें पाँच कला, विशेष मनुष्योंमें उससे अधिक कला और विभूतियुक्त असाधारण पुरुषोंमें आठ कला तकका विकाश होता है। परन्तु ये सभी विकाश जीवकोटिके हैं। इसके अतिरिक्त शक्तिके विकाश होनेकी आवश्यकता हो अर्थात् धर्मकी रक्षा और अधर्म्मके नाशके लिये आठ कलासे अतिरिक्त शक्तिके आविर्भावकी आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें हो, तो जिस असाधारण अलौकिक केन्द्रके द्वारा वह शक्ति प्रकट होती है उसे अवतार कहते हैं। इसी प्रकारसे भगवान्की शक्ति प्रकृतिकी आवश्यकताके अनुसार ९ कलासे १६ कला तक प्रकट होती है। नौ दस आदि कलाके अवतार अंशावतार कहलाते हैं और सोलह कलाके अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं। अवतारोंका आविर्भाव धर्मकी रक्षा और अधर्मके नाशके लिये होता है। वह शक्ति भगवान्की है, इसलिये जिस केन्द्रसे इस प्रकार अलौकिक शक्तिका विकाश हो, वह अवताररूपी केन्द्र सर्वथा पूज्य है। यही अवतारोपासनाका संक्षिप्त विज्ञान है। इसका विस्तार आगे किया जायगा। इसके अनन्तर सगुण ब्रह्मरूपी पञ्चदेवोपासना और अन्तमें निर्गुण ब्रह्मोपासना, इस रीतिसे उपासनाके ये पांच अङ्ग और क्रियारूपसे चार योग, कुल नौ अङ्ग हुए, जिनके अधिकारानुसार अनुष्ठानसे साधकको भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है और निःश्रेयस पदवी मिलती है।

मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग, इनमेंसे किसी एककी सिद्धावस्थामें साधक राजयोगका अधिकार प्राप्त करके कृतकृत्य होता

है। उपास्यके अनुसार भूतप्रेतादिका उपासक केवल इहलौकिक सुख प्राप्त करता है और कभी कभी उसकी दुर्गति भी होती है। ऋषि देवता और पितरोंका उपासक इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके अभ्युदयको प्राप्त करता है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि, सकाम बुद्धिसे जो अवतारोपासना और सगुण ब्रह्मोपासना करते हैं वे केवल इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त करते हैं, परन्तु निष्कामरूपसे अवतारोपासक हो, अथवा सगुण ब्रह्मो-पासक हो, अथवा निर्गुण ब्रह्मोपासक हो, उनकी उपासना मुक्ति-प्रद होगी।

भक्ति उपासनाका प्राण और योग उपासनाका शरीर है। चित्तमें भगवान्‌के प्रति जिस अनुरागके उदय होनेसे भक्त भगवान्‌का सान्निध्य लाभ कर सकता है, उसे भक्ति कहते हैं और जिन सब शारीरिक और मानसिक क्रियाओंके अनुष्ठानसे चित्त शान्त होकर आत्माके स्वरूपको दिखा सक्ता है उसे योग कहते हैं। इसलिये उपासनाकी उन्नति और पूर्णता प्राप्तिके अर्थ प्राणरूपी भक्ति और शरीररूपी योगकी परम आवश्यकता है। इनके विशेष वर्णन पृथक् अध्यायमें किये जायेंगे।

शास्त्रमें आध्यात्मिक उन्नतिके लिये जितने प्रकारके उपाय बताये गये हैं, उपासना उन सबोंकी सिद्धिमें परम सहायक है। धर्मके सब अङ्ग या उपाङ्ग उपासनाके ही बलसे साधकको पूर्णता प्राप्त करा सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि दानधर्मके अनुष्ठानमें दानकी पूर्णफलप्राप्तिके लिये दाताके चित्तमें उपासना-मूलक धर्मभाव और श्रद्धाकी बहुत आवश्यकता है; क्योंकि ईश्वरके प्रति प्रेम और भक्तिभावकी दृढ़ताके बिना सात्त्विक दानमें प्रवृत्ति और सफलता होना असम्भव है। इसी प्रकार तपधर्ममें भी जब तक आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इच्छा और भगवान्‌के प्रति

भक्ति न हो, तब तक सात्त्विक तपकी परमफल-प्राप्ति नहीं होती; ये सब भाव मूलमें उपासनाके रहनेसे ही प्राप्त होते हैं। उपासना-विहीन दान और तप मनुष्यको संसारमें फँसाकर और भी अधोगति प्राप्त कराता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कर्मयोगके रहस्य-वर्णनमें जितने प्रकारके कौशल बताये हैं, उनमेंसे उपासनामूलक भगवत्समर्पण कर्मयोगमें उन्नति और पूर्णताप्राप्तिके लिये सर्वोत्तम कौशल है।

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> तत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
> शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः।
> सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

हे अर्जुन! जो कुछ कार्य्य करो, भोजन करो, हवन करो, दान करो या तपस्या करो, सब कर्म मुझमें अर्पण करना। ऐसा करनेसे शुभ या अशुभ कर्मके बन्धनमें नहीं आओगे और सन्न्यास-योगयुक्त हो, सकल बन्धनसे मुक्त होते हुए मुझको प्राप्त करोगे।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें और भी बतलाया है कि, "कर्मयोगीके लिये समस्त संसार भगवान्‌का ही रूप है इसलिये जगत्सेवा भगवान्‌की ही सेवा है।" इस उपासनाबुद्धिसे कर्मयोगमें प्रवृत्त होना चाहिये। उनको प्रतिदिन यह विचार रखना चाहिये कि, "मैं अल्पशक्ति हूँ, भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, जगत्‌की सेवा उन्हींकी पूजा है, इसलिये अल्पशक्ति मैं उनका निमित्तमात्र होकर तब ही उनकी सेवा कर सकता हूँ, जब सर्वशक्तिमान् भगवान् मुझे शक्ति देवें, और मेरे पुरुषार्थका जो कुछ फल होगा सो उन्हींका होगा, मेरा कुछ नहीं; क्योंकि जिस शक्तिसे कार्य्यका फल मिलता है वह शक्ति उन्हींकी है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है।" कर्म्मयोगी इस प्रकार उपासना-भावके साथ यदि कर्म्म करे,

तो कदापि कर्म्मबन्धन नहीं प्राप्त होसक्ता है। अन्यथा जैसा गीताजी-में कहा है कि:—

अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।

अहङ्कारसे मुग्ध होकर अपनेको कर्त्ता समझ लेवे तो कर्म्मबन्धन प्राप्त होता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, कर्म्मयोगमें सफलता प्राप्त करनेके लिये और कर्म्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये उपासनाही परम सहायक है। इसी प्रकारसे ज्ञानयोगमें भी उपासनाकी सहायतासे ज्ञानयोगीकी अपने मार्गमें सुबिधाके साथ उन्नति होती है। परमात्माके प्रति भक्तिभावयुक्त ज्ञानयोगी तत्त्वज्ञानको शीघ्र प्राप्त करसक्ता है। महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनके समाधिपादमें लिखा है कि:—

तीव्रसंवेगानामासन्नतमः।

साधकके चित्तमें तीव्र आकाङ्क्षा रहनेसे स्वरूपकी उपलब्धि शीघ्र हुआ करती है। यह तीव्र आकाङ्क्षा उपासनासापेक्ष है; क्योंकि ज्ञानयोगी भक्तके चित्तमें ही ज्ञानके साथ साथ भगवान्को प्राप्त करनेके लिये हृदयकी ऐसी तीव्र इच्छा और भक्ति हो सक्ती है। अतः ज्ञानयोगमें भी उपासनाकी सहायता परम आवश्यकीय है इसमें सन्देह नहीं। उपासना और भक्तिसे रहित ज्ञान शुष्कज्ञान-रूपमें परिणत होकर तर्क-बुद्धि और नास्तिकभाव पैदा करता है; जिसके फलसे निर्व्विकल्प समाधि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

ज्ञानमार्गमें उपासनाकी कितनी आवश्यकता है सो वेदके उप-निषद्भाग पर विचार करनेसे स्पष्ट होसक्ता है। वेदका यह भाग गीता तथा ब्रह्मसूत्रके साथ मिलकर प्रस्थानत्रय कहलाता है। गीता-का विज्ञान ज्ञानयोगीको निष्काम कर्म्मयोगका रहस्य बतलाता है, उपनिषद्का विज्ञान ज्ञानयोगके साथ उपासनाका रहस्य बतलाता है

और वेदान्तविज्ञान साधकको आत्मज्ञान प्राप्त होनेका उपाय बतलाता है। प्रस्थानत्रयका यही महान् रहस्य है। इसी प्रकार-से सनातनधर्मके प्रत्येक अङ्गके साथ उपासनाका सम्बन्ध बताया गया है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु पृथिवीके और भी अन्य अन्य धर्म्म, जैसा कि ईसाई धर्म्म, मुसलमान धर्म्म आदि सबही में ईश्वरकी उपासनाका प्राधान्य रक्खा गया है। अतः उपासनाके सकल कल्याणकारी भावके ऊपर किसीका भी सन्देह नहीं होसका।

यही संक्षेपसे वर्णित उपासना या साधनाका विज्ञान है। अब अगले अध्यायोंमें उपासनाके इन अङ्गोंका कुछ विस्तृत वर्णन किया जायगा।

मन्त्रयोग।

चित्तवृत्तिका निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्रीभगवान्का सान्निध्य लाभ करनेके लिये जितनी साधनप्रणालियाँ हो सकती हैं, उन सबोंको चार भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा योगतत्त्वो-पनिषद्में:—

> योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
> मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥

योगके क्रियासिद्धांश चार भागोंमें विभक्त होते हैं। यथाः— मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग तथा राजयोग। इन चारोंमेंसे अधिकार-विचारानुसार मन्त्रयोग प्रथम है। पहले ही बताया गया है कि अतिसूक्ष्म इन्द्रियातीत परम तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये प्रकृति-परायण मानवचित्त एकाएक अधिकारयुक्त नहीं हो सकता है। इसलिये मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग साधनद्वारा धीरे धीरे

स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चित्तवृत्तिको नियोजित करके अन्तमें राजयोग-साधनद्वारा अद्वितीय निराकार देशकालापरिच्छिन्न परब्रह्मसत्तामें जीवात्माको विलीन किया जाता है। यही अधिकार-भेदानुसार चारों योगोंका साधनक्रम है, जो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, वृहस्पति आदि मुनिगण मन्त्रयोगके आचार्य हुए हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि, समस्त दृश्यजगत् भावका ही विकाशमात्र है। प्रलयावस्थाके अनन्तर प्रकृतिके गर्भमें स्थित जीवोंका संस्कार जब सृष्टिके अनुकूल होता है, उसी समय परमात्माके अन्तःकरणमें--

"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय"

मैं एक हूं, बहुत हो जाऊँ, प्रजाओंकी सृष्टि करूं, इस प्रकारका भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है और इसी भावका परिणाम नाम-रूपात्मक यह दृश्य संसार है। दृश्य संसारके नामरूपात्मक होनेका कारण यह कि प्रत्येक भाव ही नाम तथा रूपके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। जिस किसीके चित्तमें जो भाव हो, वह उसीके अनुसार शब्द द्वारा तथा रूपकल्पना द्वारा उसी दृश्यभावको प्रकट करता है। प्रेमका भाव प्रेममूलक शब्द तथा प्रेममयी मूर्त्तिके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। वीरताका भाव वीरताव्यंजक शब्द तथा वीररूपके द्वारा प्रकट होता है, इत्यादि इत्यादि व्यष्टिभावके विचार द्वारा यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जिस प्रकार व्यष्टि जगत्में प्रत्येक भावका प्रकाश नाम और रूपके द्वारा देखा जाता है, उसी प्रकार समष्टि सृष्टिमें भी परमात्माके चित्तका सृष्टिके लिये इच्छारूपी भाव नामरूपात्मक जगत्रूपसे प्रकट होता है।

अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा,

यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है जिससे समस्त जीव संसारबन्धनमें आगये हैं, तो यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नामरूपका आश्रय लेकर, नामरूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्त-वृत्तिका लय होने पर तब मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि मह-र्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बताई हैं, जिसका नाम मन्त्रयोग है। यथा मन्त्रयोगसंहिता योगशास्त्रमें:—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्।
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः॥

सृष्टि नामरूपात्मक होनेके कारण नामरूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसी भूमिके अवलम्बनसे पुनः उठ सकता है। नामरूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नामरूपात्मक प्रकृति-वैभव जीवको अविद्यासे ग्रास किये रहते हैं, अतः अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योग-साधन किया जाय उसको मन्त्रयोग कहते हैं।

मनुष्य भावोंका दास है। भावशून्य होकर मनुष्यका अन्तः-करण एक मुहूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता है। वैदिक दर्शनोंका

यह सिद्धान्त है कि भावशुद्धिके द्वारा असत्कार्य भी सत् होजाता है और भावमालिन्यके हेतु सत्कार्य भी असत् होजाता है। उदाहरणरूपसे कहा जा सकता है कि, मनुष्यहत्या एक असत् कार्य है, परन्तु यदि वह धर्मयुद्धके लिये या राजा अथवा साधुजनोंकी रक्षाके लिये हो तो वह धर्मकार्य कहलावेगा। अर्थात् मनुष्यहत्या रूप कार्य असत् होने पर भी भावशुद्धिके कारण सत् हो जाता है। इसी प्रकार आश्रयदान एक पुण्यकार्य है। परन्तु कोई मनुष्य यदि किसी पापीका पाप जानता हुआ भी उसे आश्रय तथा प्रश्रय दे तो उससे उसका वह आश्रय तथा अभयदानरूप सत्कार्य भी असत्भावके कारण पापोंमें गिना जावेगा। इस प्रकार सनातनधर्ममें भावशुद्धिका प्राधान्य यथेष्ट वर्णित है। भावतत्त्वके समझनेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि भोग्य विषयको देखकर इन्द्रियका सम्बन्ध अनुमान किया जाता है। इन्द्रियकी क्रियाको देखकर अन्तःकरणकी वृत्तिका अनुमान हो सकता है और तब अन्तःकरणकी वृत्तिके मूलमें जो भाव रहता है सो अनुभूत होता है। स्त्रीरूप विषयको प्रथम दर्शनेन्द्रियने देखा, फिर उससे अन्तःकरणमें नाना वृत्तियोंका उदय हुआ ; परन्तु उस द्रष्टाका भाव यदि मलिन रहा तो वह उस स्त्रीरूप विषयको इन्द्रियभोग्य मान लेगा और यदि उसके अन्तःकरणमें भावकी शुद्धता रही तो वह उस स्त्रीरूप विषयको मातृरूपमें अथवा जगज्जननीकी प्रतिकृतिरूपमें देखनेमें समर्थ होगा। इसी प्रकार सनातनधर्ममें भावका यथार्थ स्वरूप गृहीत होकर भावशुद्धिके बहुतसे उपाय निश्चित हुए हैं।

अविद्याग्रस्त मनुष्योंके चित्तमें वैषयिक भावका प्राधान्य होनेके कारण वे सदा ही अपने अपने भावोंके अनुकूल संसारके लौकिक रूप तथा नाममें फँसे रहते हैं, अतः उनके चित्तसे लौकिक भावोंको

दूर करके दिव्य भावोंका उदय करनेके लिये लौकिक नाम तथा रूपके बदले दिव्य नाम तथा दिव्य रूपोंकी साधन विधि मन्त्रयोगमें बताई गई है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्त्तिकी पूजा हुआ करती है। शास्त्रमें स्थूलमूर्त्तिमयी प्रतिमा आठ प्रकारकी कही गई है यथा-श्रीमद्भागवतमें:—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥

श्रीभगवान्‌की प्रतिमा आठ प्रकारकी हुआ करती है। यथा-पाषाणमयी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहनिर्मित प्रतिमा, लेपन द्वारा बनाई हुई प्रतिमा, तुलिकासे चित्रित प्रतिमा, वालुका द्वारा निर्मित प्रतिमा, अन्तःकरणमें ही कल्पित प्रतिमा और विविध प्रकारकी मणियोंके द्वारा निर्मित प्रतिमा। केवल पुराणमें ही नहीं वेदमें भी श्रीभगवान्‌की इस प्रकार पाषाणादिमयी मूर्ति बनानेकी आज्ञा है। यथा-अथर्ववेदमें:—

"एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः"

हे भगवन्! आप इस पाषाणमयी मूर्तिमें विराजमान हो जाँय, आपका शरीर यही पाषाण हो।

अतः सिद्ध हुआ कि मन्त्रयागमें विहित मूर्तिपूजा सर्वथा वेदादिशास्त्रानुमोदित है।

अब आकारविहीन, ज्ञानस्वरूप, अद्वितीय परमात्माकी इस प्रकार नश्वर स्थूलमूर्तिमें उपासना कैसे सम्भव हो सकती है सो बताया जाता है। अनेक पाश्चात्य तथा एतद्देशीय अर्वाचीन पुरुषोंने हिन्दुजातिकी मूर्तिपूजाके तत्त्वको न समझ कर हिन्दुओंको पाषाण-पूजक, जड़ोपासक, पौत्तलिक आदि कह कर निन्दा की है। किसी किसीने तो वेदसे भी मन्त्रोंको उठाकर उनका मिथ्या तथा अप्रासं-

गिक अर्थ करके अपनी अज्ञानताका परिचय प्रदान किया है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि :—

"न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः"

यह जो वेदका प्रमाण अर्वाचीन पुरुष उठाते हैं वहाँ पर प्रसङ्ग मिलानेसे निश्चय होता है कि वहाँ "प्रतिमा" शब्दका अर्थ पाषाणादिमयी प्रतिमा नहीं है परन्तु 'उपमा' है अर्थात् पूरे मन्त्रका अर्थ यह है कि जिस परमात्माका नाम तथा यश महत् है उसके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती है। अतः वेदादि शास्त्रोंका ऐसा कदर्थ करना ठीक नहीं है।

और इसमें सबसे अधिक विचारकी बात यह है कि हिन्दुधर्ममें नश्वर पाषाणमयी मूर्तिकी पूजा जब होती ही नहीं तब इसके मण्डनमें प्रयत्न करनेका प्रयोजन क्या है? ऊपर जो आठ तरहकी प्रतिमाका वर्णन वेदादि शास्त्र-प्रमाणसे किया गया है, हिन्दुजाति उन सब पाषाणादिमयी प्रतिमाओंकी पूजा नहीं करती है; परन्तु पाषणादिमयी प्रतिमाओंमें पूजा करती है। अर्थात् निराकार परमात्माकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनंत लीलाओंके अनन्त भावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर उन्हींके अनुसार तथा उन्हीं भावोंके प्रकाशक रूप पाषाण, काष्ठ, धातु तथा मणि आदि उपकरणोंसे बनाकर उन भावोंकी और परमात्माकी सर्वव्यापिनी शक्तिको प्रतिमारूपी आधारके द्वारा प्रकटित करके उस शक्तिकी पूजा करती है। अब निराकार भगवान्‌की इन सब पाषाणादि प्रतिमाओंके अवलम्बनसे किस प्रकारसे भाव द्वारा स्थूलपूजा हो सकती है और इस प्रकारकी साकार भावमयी मूर्तिओंकी पूजाका प्रयोजन भी क्या है सो नीचे बताया जाता है।

आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार जैसा कि पहले कहा गया है, परमात्माके तीन भाव माने गये हैं यथाः—ब्रह्म, ईश और विराट्।

उन सब लक्षणोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि परमात्माका निर्गुण ब्रह्म भाव प्रकृतिसे परे है। यथा श्रुतिः—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति
न मनो न विद्मो न विजानीमः'

निर्गुण ब्रह्म चक्षु, वाक् आदि इन्द्रियाँ, तथा मन और बुद्धिसे भी परे हैं। जो वस्तु जिससे अतीत है वह उसके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती है। जब निर्गुण ब्रह्म प्रकृतिसे तथा मन बुद्धिसे भी अतीत हैं, तो प्रकृतिकी किसी वस्तुके अवलम्बनके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी उपासना नहीं हो सकती है। अतः मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदिके द्वारा निराकार निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करना वृथा चेष्टामात्र है। परन्तु क्या इससे यह सिद्धान्त निकालना पड़ेगा कि निराकार निर्गुण ब्रह्मकी उपासना तथा उपलब्धि होती ही नहीं? सो नहीं। निर्गुण निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये उपासना भिन्न प्रकारकी है। यथा कठोपनिषद्में:—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

महत्तत्वके परे अव्याकृत प्रकृति है और अव्याकृत प्रकृतिके परे निर्गुण निराकार परम पुरुष परमात्मा है। उनसे परे और कोई भी नहीं है। ये ही परमात्मा सकल भूतोंमें गूढ़ हैं। सूक्ष्म अतीन्द्रियदृष्टि-सम्पन्न योगिगण उनको सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा अनुभव करते हैं। और भी मुण्डकोपनिषद्में—

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।"

आनन्दरूप अमृतरूप परमात्माको धीर योगिराज प्रज्ञाके द्वारा देखते हैं। वह प्रज्ञा कैसी है? इसके उत्तरमें भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा" "ऋतं सत्यं बिभर्तीति ऋतंभरा"

जिस प्रज्ञाके द्वारा सत्यवस्तुका अनुभव हो वही ऋतम्भरा प्रज्ञा है। उस प्रज्ञाके उदय होनेसे क्या होता है? भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं:—

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"

उससे उत्पन्न संस्कार प्रकृतिसम्भूत अन्य सभी संस्कारोंको नष्ट करता है, केवल स्थूल सूक्ष्म सर्वदर्शी ज्ञानसंस्कार ही रह जाता है। तदनन्तर निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि कब होती है?

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः"

प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कारका भी निरोध होकर सर्व-निरोध होनेसे निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प समाधि होती है। इसी निर्विकल्प समाधिमें निर्गुण निराकार परब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि होती है। इस समय विकल्परहित होनेसे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय या ध्याता ध्यान ध्येय-रूपी त्रिपुटीका पूर्ण विलय हो जाता है। और साधक अपनी प्रकृतिकी समस्त सूक्ष्मदशाको अतिक्रम करके प्रकृतिसे अतीत परब्रह्मभावमें विराजमान हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि जबतक साधककी चित्तवृत्ति तथा बुद्धि प्रकृतिकी सीमाके भीतर है तथा ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी विद्यमान है, तबतक निर्गुण निराकार ब्रह्मका पता नहीं लग सकता है। दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है—

"ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम्"

"स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम्"

ब्रह्मका अधिदैव तथा अधिभूत रूप तटस्थलक्षण-वेद्य है और उनका अध्यात्म स्वरूप लक्षण वेद्य है। तटस्थलक्षण त्रिपुटीके अन्तर्गत है और स्वरूपलक्षण त्रिपुटीसे अतीत है। परमात्माका ईश तथा विराट्भाव तटस्थलक्षणके द्वारा अनुभवगम्य है, परन्तु ब्रह्मभाव

तटस्थ लक्षणसे अतीत है जैसा कि उपर बताया गया है। शास्त्रमें तटस्थभावके अन्तर्गत त्रिपुटिके अवलम्बनसे परमात्माकी जितने प्रकारकी उपासनाएँ बताई गई हैं, वे सब ही उनके ईश या विराट्-भावके लक्ष्यसे हैं ऐसा समझना चाहिये। अब नीचे सगुणब्रह्म ईश्वरकी उपासनाके लिये भावमयी मूर्त्तिकी क्या आवश्यकता है सो बताया जाता है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है:—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

मुझमें चित्तको अर्पण करके श्रद्धाके साथ नित्ययुक्त होकर जो मेरी उपासना करता है वह श्रेष्ठ भक्त है। जो भक्त समस्त इन्द्रियोंको संयत करके, सर्वत्र समबुद्धि तथा सर्वभूतकल्याणनिरत होकर मेरे अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, चिन्तासे अतीत, कूटस्थ, अचल तथा ध्रुव भावमें अपने चित्तको अर्पण करता है वह भी मुझे ही प्राप्त करता है। केवल भेद इतना ही है कि देहाभिमानी साधकके लिये देहरहित अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है क्योंकि जहाँ देहका अभिमान है वहाँ निराकारकी भावना अत्यन्त कठिन होनेसे वह दुःखसे प्राप्त होती है। इन श्लोकोंपर विचार करनेसे निश्चय होगा कि प्रथम श्लोकमें पर-मात्माकी भावमयी साकार मूर्तिमें मनःसंयोगके लिये श्रीभगवान्‌ने आज्ञा की है और इस प्रकार साकार पूजा तभी तकके लिये बताई

है जबतक साधकका देहाभिमान दूर न हो और पूर्ण वैराग्यप्राप्ति तथा इन्द्रिय-संयमशक्ति साधकमें न आवे। और परवर्ती श्लोकोंमें देहाभिमानी तथा पूर्णवैराग्यहीन साधकोंके लिये निर्गुण निराकारका साधन कठिन बताकर उसी समय निराकारकी साधनाके लिये यथार्थ काल बताया गया है, जिस समय कि साधकका देहाभिमान पूर्ण नष्ट हो जाय और उसको परमवैराग्यकी प्राप्ति हो। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। क्योंकि देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनःसंयोग करना बहुत ही कठिन अपितु असम्भव ही है। इसके दो कारण हैं—प्रथम मनका स्वाभाविक चाञ्चल्य और द्वितीयतः अनादि कालसे मनका अभ्यास। अन्तःकरणमेंसे बुद्धि निश्चयकारिणी है, परन्तु मनका धर्म निरन्तर सङ्कल्प विकल्प करना ही है। अतः सङ्कल्प-विकल्पधर्मी मनके लिये सर्वदा चञ्चल रहना स्वाभामिक है। मनको शान्त करनेके लिये प्रयत्न करना उसे अपने स्वाभाविक धर्मसे च्युत करना है। इस कारण मनके लिये यह संग्राम जीवन-मरण-संग्राम होनेसे उसे शान्त करनेका पुरुषार्थ करनेपर भी वह अधिक चञ्चल होने लगता है। प्रत्येक वृत्तिकी शक्ति तभी पूरी तरहसे प्रकाशित होती है जब उस वृत्तिके दमन करनेका अवसर आवे। क्योंकि बन्धनदशामें वृत्तिके आधीन रहनेपर उसकी शक्ति एतादृश प्रकाशित नहीं होती है, दमन करते समय ही वृत्तिकी समग्र शक्ति तथा चित्तपर अधिकारका प्रभाव मालूम होने लगता है। यही कारण है कि अन्य समयमें मन चाहे साधारण रूपसे ही चञ्चल रहे, जिस समय मनको रोकनेके लिये प्रयत्न किया जाता है उसी समय मनकी सारी शक्ति प्रकट होने लगती है, जिससे चाञ्चल्य बहुत ही बढ़कर मनको क्या जाने कहाँ कहाँ भगाता रहता है। इसी विषयको श्रीभगवान् वेदव्यासजीने महाभारतमें वर्णन किया है। यथाः—
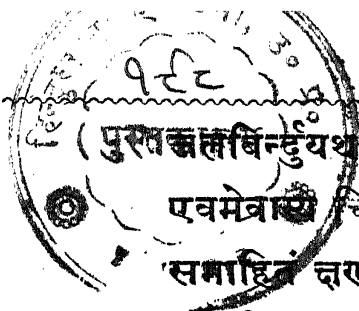
जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः ।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥
समाहितं क्षणं किञ्चिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति ॥
पुनर्वायुपथभ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥

कमलके पत्रपर स्थित जल जैसा चञ्चल रहता है उसी प्रकार ध्यानके समय मन भी चञ्चल होता है। कभी थोड़ासा शान्त होकर मन ध्यानमें निविष्ट होता है, परन्तु पुनः वायुकी तरह चञ्चल होकर ध्येय वस्तुसे दूर चला जाता है।

श्रीगीताजीमें अर्जुनके मुखसेः—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

मन अति चञ्चल, उन्मत्त और वेगवान् है, इसका दमन करना वायुको शान्त करनेकी तरह सुकठिन है—इस बातको सुनकर श्रीभगवान्ने—

" असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् "

यह बात ठीक है कि मन चञ्चल और दुर्दमनीय है ऐसा कह-कर निज मुखसे ही मनकी चञ्चलताका विषय प्रकट किया है। अब विचार करनेकी बात यह है कि जब साकार ध्येय वस्तुका अवलम्बन मिलनेपर भी मनकी यह दशा है कि ध्येय वस्तुमें एकाग्र न होकर इधर उधर भटकता रह जाय और कमलदलस्थित जलकी तरह चञ्चल होता रहे तो जहाँ किसी प्रकारकी ध्येय वस्तुका अवलम्बन ही नहीं है। उस प्रकार निराकार उपासनामें चञ्चल मन कैसे स्थिर हो सकता है ? अतः मनके पूर्ण शान्त होनेके पहले तथा जितेन्द्रियता, संयम, पूर्णवैराग्य तथा देहाभिमान नाश होनेके पहिले निराकारमें मनःसंयमकी चेष्टा करना निष्फल है।

देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनोनिवेशकी असम्भावनाका

दूसरा कारण अनादि कालसे मनका अभ्यास है। यह दृश्य संसार मनका ही विलासमात्र है।

" मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम् "

अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतमय चराचर दृश्य जगत्का विलास मनके ही कारण है। मन ही नामरूपमय संसारको बनाकर इन्द्रियाँ तथा वृत्तियोंकी सहायतासे नाम तथा रूपमें फँसा हुआ रहता है। अविद्योपाधियुक्त जीव मनका दास होकर संसारके भिन्न भिन्न नाम और रूपमें फँस जाता है और इसीसे नवीन नवीन संस्कारोंको प्राप्त करता हुआ जन्ममृत्युचक्रमें परिभ्रमण करता रहता है। इस लिये नाम और रूपके प्रति मनकी आसक्ति अनादि अभ्यासजनित होनेके कारण अनादि है। इस अनादि रूपतृष्णाको छोड़नेके लिये प्रबल वैराग्यके विना मनुष्य कदापि समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्तिनिरोधके लिये—

" अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः "

और श्रीभगवान्ने गीताजीमें—

" अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते "

यही अभ्यास और वैराग्यरूपी उपाय मनःस्थिर करनेके लिये बताया है। परमात्मामें चित्तस्थितिके यत्नका नाम अभ्यास और विषयका दोषदर्शन करते हुए विषयत्यागकी चेष्टाका नाम वैराग्य है। परन्तु जबतक संसारके रूपसे प्रबल वैराग्य न हो तबतक यह निश्चय है कि रूपरहित परमात्माके भावमें चित्त स्थिर कभी नहीं होगा; क्योंकि अनादि अभ्यासके कारण रूपमें आसक्त चित्त रूपकोही चाहेगा और संसारके रूपके अवलम्बनसे ही शान्त होनेमें अभ्यस्त होनेके कारण रूपके आश्रयसे ही शान्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा। परन्तु संसारके रूपमें क्षणभङ्गुर सुख होनेके कारण नित्यानन्दप्रयासी जीव उसमें चिरशान्तिको प्राप्त हो

नहीं सकता; अधिकन्तु वैषयिक रूपमें काम, लोभ, मोहादि वृत्तियोंका दास होकर और भी अवनतिको प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर अनादि अभ्यासके कारण रूपका अवलम्बन होना भी जरूरी है, इसलिये परमकरुणामय महर्षियोंने मन्दमति मायाबद्ध जीवोंकी वैषयिक तृष्णाको घटाकर भगवद्भावमें साधकको निमग्न करनेके लिये निराकार सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अनन्तलीलाविलासमयी भावमयी मूर्तिका विधान साधनकी प्रथम दशामें मन्त्रयोगके अधिकारियोंके लिये किया है। श्रीभगवान्की लीलामयी भावमयी मधुर मूर्तिमें चित्तको अर्पण करनेसे, उनके किसी अङ्गमें अथवा सर्वाङ्गमें ही प्रेमके द्वारा चित्तको आसक्त करनेसे, विषयासक्त चित्त धीरे धीरे संसारके रूपोंको छोड़ देगा और सांसारिक काम-मोहादि वृत्तियाँ नष्ट होकर भगवान्के रूपमें आसक्ति द्वारा केवल श्रद्धा भक्ति तथा सात्त्विक प्रेम ही वह प्राप्त करेगा। इस तरहसे आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ, पूर्ण वैराग्यप्राप्ति होनेसे जब उसकी नामरूपासक्ति बिलकुल छूट जायगी, तब वह राजयोगोक्त रूपरहित, अद्वितीय, सर्वव्यापी परब्रह्मभावमें निमग्न होकर निःश्रेयस पद प्राप्त करेगा। यही श्रीभगवान्की साकार मूर्तिकी पूजाका प्रयोजन है। इसलिये मन्त्रयोगका सिद्धान्त है जैसा कि पहले बताया गया है—

तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।

जिस प्रकार जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसीको पकड़कर उठ सकता है, वायु या आकाशको पकड़कर नहीं उठ सकता, उसी प्रकार जब नाम और रूपको पकड़कर ही जीव बन्धन दशाको प्राप्त होगया है तो नाम तथा रूपके द्वारा ही वह उन्नतिको प्राप्त करेगा। यह नाम तथा रूप बन्धनदायी वैषयिक नाम और रूप नहीं, किन्तु यह नाम और रूप मुक्तिप्रदानकारी श्रीभगवान्का

दिव्य नाम तथा दिव्य रूप है। इसीलिये शास्त्रमें अधिकारीनिर्णय-प्रसङ्गमें कहा गया है:—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

साधारण अधिकारी निर्गुण, निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेमें अशक्त होते हैं, उनके लिये सगुण साकार मूर्तिपूजाका विधान किया जाता है। सगुण साकार पूजाके द्वारा चित्तके वशीभूत होनेपर उपाधिरहित निर्गुण परब्रह्मकी साधनाका अधिकार साधक प्राप्त कर सकते हैं। तथा च—

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पनम्॥

चिन्मय, अप्रमेय, निर्गुण और निराकार ब्रह्मकी रूपकल्पना साधकके कल्याणके लिये ही की जाती है। मन्त्रयोगसंहितामें लिखा है:—

आकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं परब्रह्मणो
रूपं तत्परिकल्प्यते जनगणैः किञ्चिज्जगद्रूपिणः।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणम्
मन्त्रं वा सततं जपद्भिरिह तैर्मुक्तिः परा लभ्यते॥

परब्रह्म निराकार हैं, उनका कोई रूप नहीं है। रूपरहित और विराट्रूपी परमात्माके रूपकी कल्पना साधकगण भाव द्वारा किया करते हैं। अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार भगवद्रूपका ध्यान तथा बीजमन्त्रके जपसे योगी शीघ्र ही मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं।

अब नीचे भावके अनुसार सगुणोपासनामें रूपकी प्रतिष्ठा

प्रतिमा आदि द्वारा किस प्रकारसे होती है सो बताया जाता है। वेदमें:—

"विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्" "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" "तामग्निवर्णां दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये" "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" "त्र्यम्बकं यजामहे" "यो भूतानामधिपती रुद्रस्तंतिचर" आदि।

इन विविध मन्त्रोंके द्वारा सगुणोपासनामें आराध्य पञ्चमूर्त्तियोंका वर्णन किया गया है और साथ ही साथ—

"उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाराणि"

ऐसा कह कर उपासना राज्यमें प्रतिमापूजनकी महिमा तथा परमावश्यकता बताई गई है। इन्हीं पञ्चमूर्त्ति तथा अन्यान्य मूर्त्तियोंकी जो विचित्र प्रतिमाएँ बनवा कर पूजी जाती हैं उन सबोंके पृथक् पृथक् रूपवर्णनमें भावकी पृथक्ता ही कारण है सो निम्नलिखित प्रबन्धसे स्पष्ट हो जायगा। शास्त्रमें शेषशायी भगवान्‌की ध्यानयोग्य मूर्त्ति इस प्रकारसे वर्णित है:—

ध्यायन्ति दुग्धाब्धिभुजङ्गभोगे
शयानमाद्यं कमलासहायम्
प्रफुल्लनेत्रोत्पलमञ्जनाभं
चतुर्मुखेनाश्रितनाभिपद्मम्।
आम्नायगं त्रिचरणं घननीलमुद्य-
च्छ्रीवत्सकौस्तुभगदाम्बुजशंखचक्रम्
हृत्पुण्डरीकनिलयं जगदेकमूल-
मालोकयन्ति कृतिनः पुरुषं पुराणम्॥

इस ध्यानमें शेषशायी भगवान्‌की निम्नलिखित मूर्त्ति बताई गई है। यथाः—भगवान् क्षीरसमुद्रमें भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नागपर सोये हैं, कमला अर्थात् लक्ष्मीरूपिणी प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही है,

उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई है, उनका रङ्ग घननील है, उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला लम्बायमान है, उनके चार हाथ हैं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, वे जगत्के आदिकारण तथा भक्तजनहृत्सरोजविहारी हैं, इनके ध्यान तथा इनकी भावमयी मूर्त्तिमें तन्मयता प्राप्त करनेसे भक्तका भवभ्रम दूर होता है। अब निराकार भगवान्‌की प्रकृतिके साथ अनन्त लीलाओंमेंसे कौन कौन भावोंको लेकर शेषशायी भगवान्‌की यह मूर्त्ति बताई गई है सो विचार करने योग्य है। यह सब रूपवर्णन कविकल्पना या अलङ्कार नहीं है परन्तु दिव्य भावोंकी ही विकाशरूप दिव्यमूर्त्ति है। क्षीरका अनन्त समुद्र सृष्टि उत्पत्तिकारी अनन्त संस्कार समुद्र है जिसको कारणवारि करके भी शास्त्रमें वर्णन किया है। कारणवारि जल नहीं है किन्तु संसारोत्पत्तिके कारण अनन्त संस्कार हैं। संस्कारोंको क्षीर इसलिये कहा गया है कि क्षीरकी तरह इनमें उत्पत्ति तथा स्थितिविधानकी शक्ति विद्यमान है। ये सब संस्कार प्रलयके गर्भमें विलीन जीवोंके समष्टि-संस्कार हैं। भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नाग, अनन्त आकाशका रूप है, जिसके ऊपर श्रीभगवान् सोये रहते हैं। श्रीभगवान् अनन्त आकाशमें संस्कारोंके भीतर निद्रित रहते हैं। उनके सोनेके लिये अनन्त आकाश इसलिये चाहिये कि वे स्वयं अनन्त रूप हैं सान्त अर्थात् देशकालवस्तुपरिच्छिन्न नहीं हैं। अनन्तदेवकी सहस्र फणा महाकाशकी सर्वव्यापकताका प्रतिपादन करती है, क्योंकि शास्त्रमें 'सहस्र' शब्द अनन्ततावाचक है। आकाश ही सबसे सूक्ष्म भूत है, आकाशकी व्यापकतासे ही ब्रह्मकी व्यापकता अनुभव होती है और आकाशसे परे ही परम पुरुषका भाव है इस कारण महाकाशरूपी अनन्त शय्यापर भगवान् सोये हुए हैं। संस्कारोंके बीचमें श्रीभगवान्‌के सोये रहनेका कारण यह है कि उनके रहे बिना संस्कारके द्वारा

पुनः सृष्टि नहीं हो सकती। क्योंकि संस्कार जड़ हैं और श्रीभगवान् चेतन हैं, चेतनकी शक्तिसे ही जड़में कार्य्यकारिणी तथा फलप्रदायिनी प्रेरणा उत्पन्न होती है। श्रीभगवान् प्रलयके बाद अपना चेतन बीज संस्कारोंमें अर्पण करते हैं और उसीसे पूर्वकल्पसञ्चित संस्कारानुसार सृष्टि होने लगती है। यथा मनुसंहितामें:—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।

पहले जल अर्थात् संस्कारराशिको उद्बुद्ध करके उसमें बीज अर्थात् अपनी चेतनशक्तिका सन्निवेश किया। कमला अर्थात् प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही है। इस भावमें प्रकृतिके साथ श्रीभगवान्‌का सम्बन्ध बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में लिखा है:—

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्"

प्रकृति ही माया और परमात्मा उस प्रकृतिके प्रेरक मायी हैं। मायोपहितचैतन्य परमात्मा मायाके द्वारा सृष्टि करते हैं, परन्तु मायाके अधीन नहीं हैं, जीव ही मायाके अधीन हैं। माया परमेश्वरकी दासी बनकर उनके अधीन होकर उनकी प्रेरणाके अनुसार सृष्टि, स्थिति, प्रलय करती है। इसी दासी भाव अर्थात् अधीनता भावके बतानेके अर्थ शेषशायी भगवान्‌की पादसेविकारूपसे मायाकी मूर्त्ति बताई गई है।

उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। शेषशायी भगवान्‌में प्रलयकालमें सृष्टि स्थिति प्रलयकारिणी ब्रह्मविष्णुरुद्रशक्ति प्रच्छन्न रहती है और सृष्टिके समय उन्हींसे धीरे धीरे लीनशक्ति प्रकट होती है। उन्हींमेंसे सृष्टिकारिणी शक्ति ब्रह्मा हैं, जो कि श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे प्रकट हुए हैं।

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं"

"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं"

इन वचनोंसे श्रुतिने भी ब्रह्माजीकी उत्पत्ति बताई है।

श्रीभगवान्‌के शरीरका रङ्ग घननील है। आकाशका रङ्ग नील है। निराकार ब्रह्मका शरीर निर्देश करते समय शास्त्रमें उनको आकाशशरीर कहा है, क्योंकि सर्वव्यापक अति सूक्ष्म आकाशके साथ ही उनके रूपकी कुछ तुलना हो सकती है। यथा श्रुतिमें—

"आकाशशरीरं ब्रह्म" "आकाशसलिङ्गात्" इत्यादि ।

अतः आकाशशरीर ब्रह्मका रङ्ग नील होना विज्ञानसिद्ध है। उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला लम्बायमान है—श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

श्रीभगवान्‌की सत्ताको छोड़कर कोई भी जीव पृथक् नहीं रह सकता, समस्त जीव सूत्रमें मणियोंकी तरह परमात्मामें ही ग्रथित हैं। समस्त जीव मणि हैं, परमात्मा सर्वजीवमें विराजमान सूत्र हैं। गलेमें मालाकी तरह जीव परमात्मामें ही स्थित है। इसी भावको बतानेके लिये उनके गलेमें माला लम्बायमान है। सब मालाकी मणियोंके बीचमें उज्ज्वलतम कौस्तुभमणि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कूटस्थ चैतन्य है। ज्ञानरूप तथा मुक्तस्वरूप होनेसे ही कूटस्थरूपी कौस्तुभकी इतनी ज्योति है। मालाकी अन्यान्य मणियाँ जीवात्मा और कौस्तुभ कूटस्थ चैतन्य है। यही कौस्तुभ तथा मणिग्रन्थित मालाका भाव है। श्रीभगवान् चतुर्भुज हैं—गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

अधिकारानुसार जो साधक जिस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की भक्ति करते हैं उनको श्रीभगवान् अधिकारानुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षफल प्रदान करते हैं। इसी चतुर्वर्गफलप्रदानके अर्थ ही श्रीभगवान्‌के चार हाथ हैं। यही चतुर्भुज मूर्तिका भाव है और

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, इस चतुर्वर्गके परिचायक शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। इस प्रकारसे क्षुद्र मूर्त्तिके अन्दर उनके विश्व-रूपकी कल्पना की गई है। अतः इन सब वर्णनोंके द्वारा सिद्धान्त हुआ कि किस प्रकारसे सृष्टिस्थितिप्रलयलीलामय अनन्त भावोंके अनुसार निराकार भगवान्की रूपकल्पना होती है और उन्हीं रूपोंके अनुसार प्रतिमा बना कर भक्त निज निज अधिकारानुसार श्रीभगवान्की पूजा करके मुक्तिभूमिमें अग्रसर हो सकता है। जिन भावोंके अनुसार रूपकी प्रतिष्ठा होती है, भक्त उसी रूपका ध्यान करते करते उन्हीं भावोंमें अपना चित्त विलीन कर सकता है और भावसे चित्तविलय करके भावग्राही भगवान्का दर्शन कर सकता है। शेषशायी भगवान्के साथ सर्वशक्तिमान्, जगन्माता द्वारा सेवित, तत्त्वातीत और जीवको चतुर्वर्ग फल देनेवाले भगवान्का सम्बन्ध रहनेसे उनके भावोंमें चित्त विलीन करके भक्तलोग शीघ्र ही प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदको प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार समस्त विश्वव्यापिनी प्रकृतिके भावोंके अनुसार भगवान्की मूर्त्तिका वर्णन होता है उसी प्रकार प्रकृतिके परिच्छिन्न भावोंके अनुसार भी देव देवियोंकी रूपकल्पना होती है। इस प्रकार रूपकल्पनामें प्रकृतिके जिस भावपर उस देवताकी चेतनशक्ति कार्य-कारिणी है उसी भावके अनुसार उस देवता या देवीकी मूर्त्ति बनाई जाती है। दृष्टान्तरूपसे ब्रह्माजीकी मूर्त्तिका विज्ञान समझ सकते हैं। ब्रह्माजी प्रकृतिके अन्तर्गत राजसिक भावपर अधिष्ठान करते हैं, इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग लाल है क्योंकि रजोगुणका रङ्ग लाल है। यथा श्वेताश्वतर उपनिषद्में—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"

त्रिगुणमयी प्रकृति लोहित, शुक्ल तथा कृष्णवर्णा है। रजोगुण लोहित, सत्त्वगुण शुक्ल और तमोगुण कृष्णवर्ण है, समष्टि अन्तःकरण

ब्रह्माजीका शरीर है जैसा कि वेद और पुराणके अध्यायमें कहा गया है। इसलिये ब्रह्माजीके चार मुख हैं क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्तःकरणके चार अंग हैं। क्रियाकालमें ज्ञानकी अप्रधानता रहने पर भी ज्ञानकी सहायता बिना क्रिया ठीक ठीक नहीं चल सकती है। इसलिये ज्ञानके रूप नीरक्षीर-विवेकी हंसको ब्रह्माजीने वाहन कर रक्खा है। और वाहन होनेके कारण उसीकी सहायतासे कार्य्य भी करते हैं इत्यादि इत्यादि। ब्रह्माजीकी मूर्त्तिके भावोंको विचार कर देखनेसे पता लग जायगा कि प्रकृतिके राजसिक भावकी लीलाके अनुसार ही ब्रह्माजीको मूर्त्ति-कल्पना की गई है। योगशास्त्रमें शिवजीका रूप निम्नलिखित भावसे वर्णन किया गया है। यथा—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्राऽवतंसम्।
रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराऽभीतिहस्तं प्रसन्नम्॥
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्।
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

इस ध्यानमें शिवजी रजतगिरिके समान श्वेतवर्ण तथा चन्द्रकला-विभूषित हैं। वे उज्ज्वलाङ्ग, प्रसन्नचित्त तथा चतुर्हस्तमें परशु, मृग, वर और अभयके धारण करनेवाले हैं। व्याघ्रचर्माम्बरधारी देवादिदेव परमात्मा समस्त देवताओंके आराध्य हैं और संसारके आदिकारण भवभयनिवारण, पञ्चमुख और त्रिनेत्र हैं। शिवजीका यह भाव सृष्टिस्थितिप्रलयकारी ईश्वरका भाव है, जो सृष्टिके साथ ही साथ जीवको आत्यन्तिक प्रलयके द्वारा भवभयनाशन मुक्तिपद प्रदान भी करते हैं। इस शिवरूप परमात्माके तमोगुणमय संहार भावको धारण करके रुद्रमूर्त्ति भी प्रकट होती है, जो प्रलयके समय समस्त ब्रह्माण्डका नाश करती है। अतः शिवरूपमें एक शान्तिमय ईश्वरभाव और दूसरा संहारकारी रुद्रभाव विराजमान है

और शास्त्रमें जो शिवरूपके स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाव और मूर्त्तियाँ बताई गई हैं वे सब इन्हीं दो भावोंके अनुसार हैं नीचे क्रमशः इसीका रहस्य बताया जायगा। उनके ईश्वरभावमें जैसा कि ऊपर बताया गया है समस्त प्रकृतिका विलास उन्हींकी कृपासे उन्हींके ऊपर प्रकाशित है। इसलिये शिवजी श्वेतगिरितुल्य मूर्त्तिमान् पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र तथा चन्द्रशेखर हैं। प्रकृतिका समस्त विलास उन्हींके शरीरमें होनेसे उनका रङ्ग श्वेत है। क्योंकि जहाँपर प्राकृतिक समस्त वर्णोंका समवेत विकाश होता है, वहां श्वेतवर्ण ही होता है। उनका पञ्चमुख स्वरूप प्राकृतिक पञ्चतत्त्वोंका रूप है; जिसके विलासके द्वारा अपूर्व शोभामय ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है; इसलिये शिवजीके पञ्चास्योंका हास्य ही प्रकृतिकी ब्रह्माण्डविकाशमयी दिव्य छटा है। उनके दो नेत्र पार्थिवाग्नि और दिव्याग्नि हैं, तृतीय नेत्र सूर्य या ज्ञानाग्नि है, क्योंकि सूर्यात्मा बुद्धिका अधिदैव है। इसलिये इसी ज्ञाननेत्रके द्वारा मदन भस्म हुआ था, चतुर्थ ज्योतिका स्थान चन्द्रकला है, जो ज्योतिका भी आधार और मनका भी अधिदैव होनेसे संसारका प्रकाशक है। इस प्रकारसे उनके ईश्वरभावके द्वारा समस्त संसारका प्रकाश होता है। यथा श्रुतिः—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

उनकी ही दीप्तिके अनुसार समस्त ज्योतिष्मान् पदार्थोंकी दीप्ति है और उनकी ही ज्योतिसे समस्त संसार आलोकित है। उनके ईश्वर भावोंमें त्रिशूल त्रिगुणका रूप है, जिसके ऊपर विश्व-वाराणसी स्थित है। जबतक शिवकी सत्ता त्रिगुणमयी प्रकृतिके अन्दर प्रकट रहेगी, तबतक वाराणसीका नाश नहीं हो सकता। उनके चार हाथोंमें परशुमृगवराभीति-मुद्राके द्वारा चतुर्वर्गफल-दान शक्ति सूचित की गई है। यथा—जिस हस्तमें मृग है, उसी

हस्तमें काम अर्थात् सकल मनोरथपूर्णकारी मृगमुद्रा है। जिस हस्तमें परशु है उसी हस्तमें अर्थ है, जो कि शत्रुनाश और दिग्विजयकी मुद्रा है। जिस हस्तमें वर है उसीमें धर्म है, क्योंकि विना धर्मके वरणीय सुखकी प्राप्ति असम्भव है, और जिस हस्तमें अभय है उसी हस्तमें मोक्ष है, क्योंकि विना मोक्षके आत्यन्तिक भयनाश अर्थात् भवभयनाश नहीं हो सकता है। इस प्रकार उपरि उक्त ध्यानके द्वारा शिवजीका ईश्वरभाव बताया गया है। शिवोपासनाकी तरह विष्णुकी उपासनामें जिस मूर्तिकी पूजा अधिक प्रचलित है, उसी मनोमुग्धकारी मूर्तिका कुछ संक्षेप रहस्य भी वर्णित किया जाता है, जिसका ध्यान निम्नलिखित रूप है, यथा—

उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शंखं गदां पंकजं
चक्रं विभ्रतमिन्दिरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयम्।
कोटीरांगदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो-
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिन्हं भजे॥

उदय होते हुए अनेक सूर्योंके समान जो दीप्यमान हैं, शङ्ख गदा कमल और चक्रको धारण करते हैं, जिनके दोनों पार्श्वोंमें लक्ष्मी और वसुमती बैठी हैं, जो अङ्गद, हार, कुण्डल आदि भूषणोंसे भूषित हैं और पीतवस्त्र धारण किये हैं, जो कौस्तुभमणिसे सुशोभित हो रहे हैं, जिनमें सकल त्रिलोक स्थित हैं और जिनके वक्षस्थलमें श्रीवत्सचिन्ह शोभा दे रहा है उनका भजन करता हूं। इस ध्यानमें विष्णुजीकी कान्ति जो कोटिसूर्य्यके तुल्य कही गई है इसका कारण यह है कि विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता होनेके कारण चित्सत्ताके साथ विष्णुका विशेष सम्बन्ध है और चित्सत्ताका रूप शास्त्रमें कोटिसूर्य्यकी तरह बताया गया है। श्रीविष्णुकी अन्यान्य शरीर-शोभा तथा बहुमूल्य अलंकार आदि ब्रह्माण्डकी स्थितिदशाके साथ उनका सम्बन्ध प्रकट करते हैं। इससे पहले शिवमूर्तिके रहस्य-

वर्णन प्रसंगमें बताया गया है कि शिवभावमें तमोगुण और ब्रह्माण्डनाशका सम्बन्ध रहनेसे भुजंग, भस्म आदि शिवजीका अलङ्कार है और श्मशानवास, व्याघ्राम्बर धारण आदि भी नाशको ही सूचित करते हैं। परन्तु विष्णुमूर्तिके साथ ब्रह्माण्डकी स्थितिका सम्बन्ध होनेसे स्थिति दशाकी भावनीय विलासकलासे विष्णुका शरीर अलंकृत रहता है। ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें सर्वत्र सुजला, सुफला, शस्यश्यामला वसुमती शोभायमाना रहती है और सर्वत्र ही ब्रह्माण्डकी यौवनदशा विलसित रहा करती है। यही कारण है कि विष्णुका शरीर यौवनसुलभसुषमामण्डित तथा अमूल्य रत्नयुक्त अलंकारोंसे और पीतवस्त्रसे सुसज्जित है और लक्ष्मी तथा वसुमती उनकी दासीरूपिणी हैं। उनके चतुर्हस्त आदि अंग प्रत्यंग तथा वर्णका तात्पर्य पहले ही लिखा गया है। विष्णुमूर्तिके साथ आकाशतत्त्वका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे आकाशचर खगपति गरुड़ विष्णुका वाहन है। इन सब भावानुसार विष्णु जीकी मूर्ति बनाई जाती है।

शक्तिके रूपोंमें दुर्गादेवीका रूप माना गया है। उन्हीं दुर्गादेवीके रूपका भाव समझानेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि महिषासुररूप तमोगुणको सिंहरूपी रजोगुणने परास्त किया है। और ऐसे सिंहके ऊपर आरोहण की हुई सिंहवाहिनी माता दुर्गा हैं, जो कि शुद्धसत्त्वगुणमयी ब्रह्मरूपिणी सर्वव्यापिनी तथा दशदिग्रूपी दशहस्तोंमें शस्त्र धारण पूर्वक पूर्णशक्तिशालिनी हैं। उनकी एक ओर बुद्धिके अधिष्ठाता गणपति तथा धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवी और दूसरी ओर बलके अधिष्ठाता कार्त्तिकेय तथा विद्याकी अधिष्ठात्री सरस्वती देवी विराजमान हैं। अतः बुद्धि धन विद्या और बल संयुक्ता सर्वशक्तिमयी सगुणब्रह्मरूपिणी दुर्गा देवी जगज्जननी महामाया हैं। प्रकृतिकी अनन्त शोभा, अनन्त

विलास और दिगन्तव्यापिनी अनन्त शक्तिके अनुसार ही उनकी मूर्त्ति बनाई जाती है और कहीं चतुर्हस्तमें, कहीं दशहस्तमें, कहीं विविध अलङ्कार तथा अस्त्र शस्त्रोंके द्वारा विविध भावोंकी सहायतासे उनकी विभूतिका वर्णन किया जाता है। संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय विधानके लिये प्रकृतिका नाना रूपोंमें विकाश होता है और तदनुसार दश महाविद्या आदि अनेक भावोंमें उनका रूपवर्णन, ध्यान और पूजा होती है। जिसमेंसे सगुण पञ्चोपासनामें प्रचलित ध्यान यह है—

सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्या चतुर्भिर्भुजैः
शंखं चक्रधनुः शरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता।
आमुक्तांगदहारकंकणरणत्काञ्चीकणन्नूपुरा
दुर्गा दुर्गतिहारिणी भवतु नो रत्नोल्लसत् कुण्डला।

भगवान् सूर्य्यके रूपके विषयमें योगशास्त्रमें ध्यान है, यथाः—

भास्वद्रत्नाऽऽढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो
भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः।
विश्वाकाशावकाशे ग्रहगणसहितो भाति यश्चोदयाद्रौ,
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरहृदयः पातु मां विश्वचक्षुः॥

उत्तम रत्नसमूह जिनके मस्तकपर शोभा दे रहे हैं, जो चमकते हुए अधर ओष्ठकी कान्तिसे शोभित हो रहे हैं, जिनके सुन्दर केश हैं, जो भास्वान् अलौकिक तेजसे युक्त हैं, जिनके हस्तोंमें कमल हैं, जो प्रभाके द्वारा स्वर्णवर्ण हैं; जो ग्रह वृन्दके सहित आकाश देशमें उदय पर्वतपर शोभा पाते हैं, जिनसे समस्त मानवलोग आनन्द प्राप्त करते हैं, हरि और हर जिनके हृदयमें स्थित हैं, ऐसे विश्वचक्षु भगवान् सूर्यदेव मेरी रक्षा करें। इस ध्यानमें सारे रूपोंके द्वारा ब्रह्मके ज्योतिर्मय प्रभावका वर्णन किया गया है। श्रीपरमात्मा सूर्यात्मारूपसे सूर्यमें विराजमान हैं और उनकी परम ज्योतिका स्थूल

दृश्य सूर्य्य है। इसी भावको प्रकट करनेके अर्थ ही सूर्यध्यानमें इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपका वर्णन किया गया है। सूर्यकिरणमें हरित, पीत, लाल, नील आदि सप्तवर्णके समन्वय हेतु ही सूर्य-किरण श्वेतवर्ण हैं। इसलिये सप्तवर्णके रूपसे सप्ताश्वको सूर्यका वाहन कहा गया है। क्योंकि ज्योतिर्मय कारणब्रह्मसे जब कार्यब्रह्म-का आविर्भाव होगा, उस समय सप्त रंग ही प्रथम परिणाम होता है। इसी कारण व्यक्तावस्थाका द्योतक वाहन और अव्यक्तरूपी ज्योतिर्मय सगुण ब्रह्मका द्योतक सूर्य्यध्यान है। और हाथका कमल मुक्तिका प्रकाशक है, अर्थात् जीवको मुक्ति देना जिसके हाथमें है। अरुण-का उदय सूर्योदयसे पूर्व होता है, इसलिये सप्ताश्ववाही रथके सारथि सूर्य्यके सन्मुख विराजमान अरुण हैं। इसी प्रकारसे सूर्य भगवान्‌की मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा भास्वान् भावोंके अनुसार की गई है।

शास्त्रमें गणपतिकी मूर्तिके विषयमें निम्नलिखित ध्यान बताया गया है—

> खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं,
> प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्।
> दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं,
> वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्मसु॥

जिनकी आकृति खर्व है, शरीर स्थूल है, मुख गजेन्द्रका है, उदर विशाल है, जो सुन्दर है, जिनके गण्डस्थलसे मदधारा प्रवाहित हो रही है और भ्रमरगण गन्धलोभसे चञ्चल होकर गण्डस्थलमें एक-त्रित हो रहे हैं, जिन्होंने अपने दन्तोंके आघातसे शत्रुओंको विदीर्ण करके उनके रुधिरसे सिन्दूरशोभाको धारण किया है और जो समस्त कर्मोंमें सिद्धि प्रदान करते हैं, ऐसे पार्वती-तनय गणेशजीको नमस्कार है। शास्त्रमें गणपतिको ब्रह्माण्डके सात्त्विक सुबुद्धि राज्यपर अधिष्ठात्री देवता कहा गया है, यथा—

बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या ।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति मामङ्गहीनं कलयन्ति मूढाः ॥

गणपति परमात्माके बुद्धिरूप हैं, सूर्य्य चक्षुरूप हैं, शिव आत्मा रूप और आद्या प्रकृति जगदम्बा शक्तिरूप हैं। जो मूढ़ इस रहस्य को न जानकर भेद बुद्धिसे मेरा भजन करता है वह मुझे अङ्गहीन करता है। इस श्लोकमें गणपति श्रीभगवान्‌को बुद्धिरूपसे वर्णित किये गये हैं। गायत्रीमें जोः—

"धियो यो नः प्रचोदयात्"

कह कर बुद्धिके प्रेरक रूपसे परमात्माका ध्यान किया गया है, उसी भावसे गणपतिका सम्बन्ध है।

गणपतिके ध्यानमें जिस प्रकार रूप बताया गया है, तदनुसार भावोंपर संयम कर देखनेसे साधकको ज्ञात होगा कि ब्रह्माण्ड-व्यापिनी सुबुद्धिके अधिष्ठातृत्व विचारसे ही ऐसा रूप बनाया गया है। जो बुद्धि अद्वैतमय परमात्मामें समस्त संसार-प्रपञ्चका विस्तार करे, वह कुबुद्धि है और जो बुद्धि संसारकी द्वैतताको नष्ट करके अद्वितीय ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा करे वही सुबुद्धि है। गणेशजी सु-बुद्धिके देवता होनेके कारण खर्वकाय तथा स्थूलतनु हैं। समस्त पशुओंमें हस्तीकी बुद्धि तीक्ष्णतम है। इसलिये प्रकृतिकी एकता होनेके कारण ही बुद्धिराज्यके अधिष्ठाता गणेशजी गजेन्द्रवदन हैं। परन्तु गजेन्द्रवदन होनेपर भी दो दन्त न होकर गणेशजीका जो एक ही दन्त है इसका कारण यह है कि गणेशजी सुबुद्धिके देवता हैं, कुबु-द्धिके नहीं। क्योंकि कुबुद्धि चित्तवृत्तिको एकसे अनेककी ओर प्रवाहित करती है और सुबुद्धि सर्वदा अद्वितीयताकी ओर ही जीव-को उन्मुख करती है। इसी अद्वैत भावप्रवणताके कारण गण-पति एकरदेश्वर कहलाते हैं। गणेशजीका वाहन मूषक कुतर्कका रूप है। जिस प्रकार किसी वस्तुका मूल्य तथा आवश्यकता न समझ

कर सभीको काट देना मूषकका स्वभाव है, उसी प्रकार कुतर्कोंका भी स्वभाव यह है कि किसी विज्ञान या शास्त्रकी गम्भीरताको न समझकर सबका खण्डन कर देवे। सुबुद्धि इस प्रकार कुतर्कको दबा रखती है, प्रबल होने नहीं देती है। इसलिये कुतर्करूपी मूषकको सुबुद्धिके देवता गणपतिजीने वाहनरूपसे दबा रक्खा है। यही सब भगवान् गणपतिकी मूर्त्तिका रहस्य है।

इस प्रकार एक ही परमात्मा ईश्वरके पञ्चदेवस्वरूप पाँच भेद पूज्यपाद महर्षियोंने किये हैं। परन्तु एक ईश्वरकी इस प्रकारसे पञ्चमूर्त्तियाँ बनाकर पञ्चोपासनाके विधान करनेका प्रयोजन क्या है? इसके उत्तरमें योगशास्त्रमें लिखा है—

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्त्तिताः।
यतो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मको बुधैः॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात्।
तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित्॥
प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्य्यं विमृश्य विधिपूर्वकम्।
उपासनाधिकारस्य पञ्चभेदमवर्णयत्॥

क्षिति, अप्, तेज, मरुत् तथा व्योम इन पञ्च तत्त्वोंके द्वारा समस्त सृष्टि उत्पन्न होनेसे तत्त्वोंके अनुसार मनुष्य प्रकृति भी पांच प्रकारकी होती है। यद्यपि प्राकृतिक वैचित्र्यके कारण सब मनुष्योंकी प्रकृतिमें कुछ न कुछ भेद रहता है परन्तु आकाश आदि पञ्चतत्त्वोंके अनुसार प्रत्येक तत्त्वकी अधिकताके विचारसे मनुष्यके उपासनाधिकारको महर्षियोंने पांच भेदोंमें वर्णन किया है। संसारमें प्रायः ऐसा देखा जाता है कि बालकपनसे प्रत्येक मनुष्यकी किसी न किसी भिन्न भिन्न देवतामें स्वाभाविक रुचि रहती है। बालकपनसे ही स्वभावतः किसीको शिवजी अच्छे लगते हैं, किसीको विष्णुजी या कृष्णजी अच्छे लगते हैं, किसीको दुर्गाजी या कालीजी अच्छी

लगती हैं इत्यादि। इस प्रकार बालकपनसे ही भिन्न भिन्न उपास्य-देवमें स्वाभाविकी रुचि होनेका कारण प्रकृति वैचित्र्य ही है। इसी वैचित्र्यके अनुसार ही एक ईश्वरकी पांच मूर्त्तियाँ विहित की गई हैं। अर्थात् जिस तत्त्वके साथ जिस मूर्त्तिका अधिदैव सम्बन्ध है उस तत्त्वप्रधान प्रकृतियुक्त साधकके लिये वही मूर्त्ति ध्यानयोग्य बताई गई है। क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल इष्टदेव-मूर्त्ति होनेसे उसमें अनायास ही साधकका चित्त आकृष्ट तथा एकाग्र होगा, जिससे ध्यानयोगमें विशेष लाभ हो सकेगा। तत्त्वोंके साथ पञ्चदेवोंका सम्बन्ध निम्नलिखित रूपसे मन्त्रयोग संहिता तथा कापिल तन्त्रमें वर्णन किया गया है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्य्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम्।
परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम्॥
ऋतम्भरधिया ज्योतिःस्वरोदयसहायतः।
उपासनाधिकारो वै निर्णेतुं शक्यते ध्रुवम्॥
चित्तसंवेगवैराग्यधारणादिविनिर्णयम्।
परीक्ष्य चाऽऽस्थान्तरिकान् भावांश्छिष्यस्य योगवित्॥
तत्सम्प्रदायनियमं तेषां प्रकृतिसन्निभम्।
करोति जीवकल्याणकल्पनाकलितान्तरः॥

आकाशतत्त्वके अधिपति विष्णु हैं, अग्नितत्त्वकी अधिपति महेश्वरी हैं, वायुतत्त्वके सूर्य, पृथिवीतत्त्वके शिव और जलतत्त्वके गणेश हैं। योगमें पारदर्शी गुरुदेव शिष्यकी प्रकृति तत्त्वानुसार निर्णय करके उसके उपासनाधिकार अर्थात् इष्टदेवका निर्णय कर देवें। ऋतम्भरा प्रज्ञा, स्वरोदय अथवा ज्योतिष, इन तीनोंकी सहायतासे उपासनाधिकार निर्णय किया जा सकता है। ऋतम्भरा प्रज्ञायुक्त

योगी साधकको देखते ही कह सकते हैं कि उनमें कौन तत्त्व प्रधान है और तदनुसार कौन इष्टदेव होना चाहिये। यदि गुरुमें ऐसा उच्चाधिकार न हो तो स्वरोदय प्रक्रियाके द्वारा भी तत्त्वका पता लग सकता है। यदि ऐसा भी न हो सके तो कुलाकुलचक्र, राशिचक्र आदि ज्योतिषचक्रोंको सहायतासे भी तत्त्वनिर्णय तथा उपास्य-निर्वाचन किया जा सकता है। इस प्रकारसे तत्त्वोंके अनुसार उपासनाधिकार निर्णय होनेके अनन्तर शिष्यके आन्तरिक भावोंकी परीक्षा द्वारा और उसके चित्तसंवेग, वैराग्य, धारणा आदिके निर्णय द्वारा प्रकृतिके अनुसार उसके सम्प्रदाय तथा ध्येयरूप-विशेषका निर्णय करनेसे साधकका कल्याण होता है।

उपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञान द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि आजकल इन पञ्च मूर्त्तियोंको लेकर जो साम्प्रदायिक विरोध उत्पन्न हुआ है सो सर्वथा निर्मूल और अज्ञानका ही फल है। जब पञ्चदेवता एकही ईश्वरके रूप हैं, भिन्न भिन्न देवता नहीं हैं, केवल साधकके कल्याणार्थ ही तत्त्वानुसार एकको पांच रूपोंमें बताया गया है, तो शिव विष्णुसे बड़े हैं, विष्णु शिवसे बड़े हैं इत्यादि रूपसे भेद मानकर जो लोग झगड़ा करते हैं सो सर्वथा व्यर्थ है। इस प्रकार वृथा संग्राम नहीं होना चाहिये।

यह बात पहिले ही कही गई है कि हिन्दूजाति पाषाणादिमयी मूर्त्तिकी पूजा नहीं करती है परन्तु पाषाण, काष्ठ, मृत्तिका आदि उपादानोंके द्वारा पूर्ववर्णित भावोंके अनुसार मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करके श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दिव्य शक्तिको उस मूर्त्तिरूपी जरियेके द्वारा प्रकट करके मूर्त्तिमें भाव तथा शक्तिकी पूजा करती है। भावके अनुसार मूर्त्ति कैसी बनायी जाती है सो पहले कहा गया है। अब उस भावानुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दिव्यशक्तिका आविर्भाव किस तरहसे हो सकता है सो बताया जाता है। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा ॥
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥

जिस प्रकार गोदुग्ध गोमाताके समस्त शरीरमें व्याप्त रहने पर भी स्तनोंके द्वारा ही वह दुग्ध क्षरित होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की शक्ति सर्वत्र व्याप्त होनेपर प्रतिमारूपी जरिये (Medium) के द्वारा वह शक्ति प्रकट होती है। परन्तु स्तनोंके द्वारा युक्तिसे जिस प्रकार गोदुग्ध निकाला जाता है, उस प्रकार प्रतिमाके अवलम्बनसे (Medium) भगवत् शक्ति प्रकट करानेके लिये कौन कौन उपाय आवश्यकीय हैं सो विचार करने योग्य हैं। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः।
साधकस्य च विश्वासाद्देवता-सन्निधिर्भवेत् ॥

ठीक ध्यान तथा भावके अनुसार मूर्त्तिका निर्माण होनेसे, पूर्ण विधिके अनुसार पूजा होनेसे और प्रतिमामें श्रद्धा और विश्वास पूर्ण होनेसे दैवीशक्तिका विकाश प्रतिमामें द्वारा होता है। शास्त्रमें इस प्रकारके शक्तिविकाशको प्राणप्रतिष्ठा कहा गया है।

जिस प्रकार स्थूल वैद्युतिकशक्तिके विकाशके लिये विज्ञानशास्त्र (Science) में यह प्रक्रिया है कि विषम शक्ति (Negative Electricity) समशक्तिका (Positive electricity) और समशक्ति विषमशक्तिका सदा ही आकर्षण करके प्रकट कर देती है, उसी प्रकार दैवीशक्तिके राज्यमें भी श्रद्धा और विश्वासकी विषमदैवीशक्ति (Negative divine Power) श्रीभगवान्‌की सम दैवीशक्ति (Positive divine power) को मूर्त्ति या प्रतिमारूपी जरिये (Medium) के द्वारा प्रकट करती है। जिस प्रकार साधारण काचमें सूर्यकी किरण पड़ने पर भी उसमें सूर्यका उत्ताप आकर्षण करनेकी शक्ति नहीं है परन्तु प्रकृतिके परिवर्त्तन-नियमके

अनुसार वही कच आतशी कच बन जाता है तो उसमें सूर्यके ताप-आकर्षणकी इतनी शक्ति हो जाती है कि उत्ताप आकर्षण करके आतशी कच समस्त वस्तु दग्ध कर दे सकता है। उसी प्रकार सामान्य पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदिमें श्रीभगवान्की शक्ति प्रकट करनेकी सामर्थ्य न होनेपर भी, जब उसी पाषाणादिके द्वारा भावानुसार मूर्त्ति बनाई जाती है, विधिके अनुसार उसकी प्राण-प्रतिष्ठा और पूजा की जाती है और श्रद्धा भक्ति तथा विश्वासकी विषमशक्ति उसमें एकाग्र की जाती है तो वही पाषाणादि द्वारा निर्मित मूर्ति आतशी कचकी तरह श्रीभगवान्की जगद्विहारिणी दिव्य शक्तिको साधक-कल्याणार्थ प्रकट करनेमें समर्थ हो जाती है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठा द्वारा प्रतिमामें दिव्यशक्तिका आविर्भाव होनेसे अनेक प्रकारका चमत्कार भी दिखता है। ऐसा वर्णन सामवेदके ब्राह्मणमें पाया जाता है, यथा—

"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति" इत्यादि।

देवताओंके स्थान काँपते हैं, देवप्रतिमा हँसती है, रोती है, नाचती है, किसी देशमें स्फुटनको प्राप्त होती है, स्वेदयुक्त होती है, नेत्र खोलती है, बन्द करती है इत्यादि। यह सब प्राणप्रतिष्ठा द्वारा मूर्त्तिमें दिव्यशक्तिके विकाशका लक्षण है और यह सब लक्षण प्रकृतिके या परिवारके भिन्न भिन्न अवस्थाके साथ सम्बन्ध रखते हैं। जैसा कि देशमें महामारी या घरमें किसी उत्तम पुरुषकी मृत्युके समय प्रतिमा रोया करे या स्फुटन हो जाय, काँप उठे, देशमें किसी महात्माके आविर्भावके समय घरमें किसी मङ्गलमय कार्यके होते समय प्रतिमा नाचा करे, हँसा करे इत्यादि सब प्राणप्रतिष्ठाकी महिमाका परिचायक है।

इस प्रकारसे प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल श्रीभगवान्‌की भावानुसार निर्मित किसी मूर्त्तिमें चित्तको अर्पण करके उसीकी पूजा और ध्यान धारणा आदि साधनके द्वारा साधकका चित्त धीरे धीरे सांसारिक रूपादि विषयोंसे हटता हुआ भगवान्‌में ही मधुकरकी नाईं निविष्ट हो जाता है। भगवच्चरणकमलासक्त भक्त ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिके अवलम्बनसे साधनकी प्रथम दशामें इस प्रकार साधन करता हुआ रूपकी सहायतासे भावमें तन्मय होनेका प्रयत्न करता है। उस समय भक्तके एकाग्रचित्तमें यदि भावग्राही भगवान्‌के भावानुसार प्रकाशित रूपके दर्शनार्थ तीव्र लालसा और संवेग उत्पन्न हो तो सर्वशक्तिमान् भगवान् उन्हीं भावोंके अनुसार स्थूल मूर्त्ति धारण करके भक्तको दर्शन भी देते हैं। यथा श्रीमद्‌भागवतमें—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

हे नाथ! तुम भावयोगके द्वारा परिभावित होकर भक्तके हृदय-सरोजमें अपनी मधुर मूर्त्तिको प्रकाशित करते हो और जिन जिन भावोंसे भक्त तुम्हारी भावना करता है उन्हीं भावोंके अनुसार मूर्त्ति धारण करके तुम भक्तके ऊपर कृपा करके उसे दर्शन देते हो। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की मधुरमूर्त्तिका दर्शन करके साधकका नयन तथा मन परितृप्त और प्रफुल्लित हो जाता है। वह उस रूपको देखते देखते आनन्दमें मग्न होकर रूपके द्वारा भगवद् भावमें तन्मय होता हुआ भावसमाधिको प्राप्त करता है। यही मूर्त्तिपूजाका चरमफल और मन्त्रयोगकी यही भावसमाधि है। इस प्रकार भावसमाधिप्राप्त योगीका चित्त संसारसे बिलकुल ही उपरत होकर

पूर्ण वैराग्ययुक्त और निर्म्मल हो जाता है और तभी साधक योगीको राजयोगोक्त देश काल और वस्तुके द्वारा अपरिछिन्न, निराकार, निर्गुण ब्रह्मध्यानमें अधिकार प्राप्त होता है।

मन्त्रयोगोक्त सगुणोपासनाके आश्रयसे मायाबद्ध जीव किस प्रकारसे मायानिर्मुक्त हो सकता है सो ऊपर बताया गया है। अब नामरूपमय मन्त्रयोगोक्त साधनप्रणाली कितने अङ्गोंमें विभक्त है सो बताया जाता है। मन्त्रयोगकी साधनप्रणाली सोलह अङ्गोंमें विभक्त है। यथा योगशास्त्रमें—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्ग-सेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि। नीचे संक्षेपसे प्रत्येक अङ्गका रहस्य वर्णन किया जाता है।

(१) भक्ति—भक्तिके तीन भेद हैं यथा वैधी, रागात्मिका तथा परा। इन तीनोंका पूर्ण रहस्य पहले ही पृथक् प्रबन्ध द्वारा बताया गया है। भक्त त्रिगुण भेदसे त्रिविध होते हैं, यथा-आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और चतुर्थ ज्ञानी, जो त्रिगुणातीत हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी लिखा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

ज्ञानी भक्त ही पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है। त्रिगुण-भेदसे उपासक तीन प्रकारके होते हैं। ब्रह्मोपासक सबमें श्रेष्ठ है। ब्रह्मबुद्धिसे सगुणोपासक और ब्रह्मबुद्धिसे अवतारोपासक इसी श्रेणीमें हैं। सकामबुद्धिसे ऋषि, देवता तथा पितरोंकी उपासना करने वाले द्वितीय श्रेणीके हैं। और क्षुद्र शक्तियोंकी उपासना करने वाले तृतीय श्रेणीके हैं। उपदेवता, प्रेतादिककी उपासना इसी निम्नश्रेणीमें समझी जाती है।

(२) शुद्धि—शुद्धिके, शरीर, मन, दिक् तथा स्थान भेदसे चार भेद हैं। वे ही स्थानशुद्धि, दिक्शुद्धि, वाक्शुद्धि और आभ्यन्तर शुद्धि कहे जाते हैं।

दिक्शुद्धि—

आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद् यथाविधिः।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद्दैवकार्यं सदैव हि॥
दिक् शुद्ध्या साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः॥

योगसंहिता।

पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करें और रात्रिको उत्तर मुख बैठकर देवकार्य सदा करें। दिक्शुद्धि द्वारा साधकको साधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है और साधकका मन वशीभूत होता है। अतः दिक्शुद्धिका विचार रखना चाहिये।

कायशुद्धि—

साधन क्रियाके अर्थ मनुष्यको स्नान कार्य्य सबसे प्रथम करना चाहिये। शास्त्रमें सात प्रकारका स्नान कहा गया है—

मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण तथा मानस—स्नानके सात भेद हैं। 'आपोहिष्ठा' आदि मन्त्र और जल आदिसे जो स्नान किया जाता है उसको मान्त्रस्नान कहते हैं। शरीरको

वस्त्रसे भली प्रकार पोछनेको भौम स्नान कहते हैं। भस्मधारण करनेसे आग्नेय स्नान कहा जाता है। गोरजको शरीरपर लेपन अथवा शरीरमें उसका स्पर्श वायव्य स्नान है। वृष्टिपात होते समय यदि सूर्यका आतप हो तो उस समय वृष्टिजलमें स्नान करनेसे दिव्यस्नान कहाता है। जलमें डूबकर स्नान करनेसे वारुण स्नान कहाता है और अनन्तसूर्य्यके समान प्रभायुक्त, चतुर्भुज सत्व-गुणमय भगवान्‌के रूपका ध्यान ही मानस स्नान है। इस प्रकार बाह्यशुद्धि द्वारा आत्मप्रसाद तथा इष्टदेवकी कृपा उपलब्ध होती है।

स्थानशुद्धि—

गोमयेन यथा स्थानं कायो गंगोदकेन च।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः॥
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम्।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम्॥

योगसंहिता।

जिस प्रकार गङ्गाजलसे शरीरकी शुद्धि होती है और गोमयसे स्थानकी शुद्धि होती है उसी प्रकार पंचशाखायुक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, विल्व, आमलकी तथा अशोक यह पञ्चवृक्षयुक्त पञ्च-वटीके नीचेका स्थान सिद्धियोंका देनेवाला है। गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, वनस्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र और नदीतीर ये सदा ही पवित्र समझे जाते हैं। स्थानशुद्धिके द्वारा पवित्रता तथा पुण्य-वृद्धि होती है।

अन्तःशुद्धि—

अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोग, निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति आदि जो गीताजीमें दैवीसम्पत्तिके लक्षण कहे गये हैं उनके अवलम्बन द्वारा अन्तःशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण निर्मल हुआ करता है। गीतोक्त

आसुरी सम्पत्तिको छोड़कर दैवीसम्पत्तिका लाभ करना ही अन्तःशुद्धि है, जिसके द्वारा इष्टदेवका दर्शन और समाधिकी प्राप्ति होती है।

(३) आसन—मंत्रयोगमें हितप्रद होनेके कारण प्रधानतः दो आसन लिये गये हैं। यथा-स्वस्तिक तथा पद्मासन। आसनभेद, आसनशुद्धि और आसनक्रिया इन तीनोंके द्वारा आसनसिद्धि होती है। सकाम—निष्काम—विचार, उपासनापद्धति और कामनाके तारतम्यसे आसनभेद निर्णीत हुए हैं। पटवस्त्र; कम्बल, कुशासन, सिंहचर्म और मृगचर्मके आसन अतिशुद्ध कहाते हैं। ये सब ही सिद्धिफलके देनेवाले हैं। काम्यकर्मके अर्थ कम्बलासन श्रेष्ठ है, परन्तु रक्त कम्बलनिर्मित आसन ही सबसे उत्तम समझा जाता है। कृष्णाजिन अर्थात् काले मृगके चर्मके आसनसे ज्ञानकी सिद्धि, व्याघ्र-चर्मसे मोक्षकी सिद्धि, कुशासनसे आयुकी प्राप्ति और चैल अर्थात् रेशमके आसनसे व्याधिका नाश हुआ करता है। और प्रथम चैल, उसके नीचे अजिन और सबसे नीचे कुशासन इस प्रकार गीतोक्त—"चैलाजिनकुशोत्तरम्" के क्रमसे आसन निर्माणकरनेसे योगसाधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है। पृथ्वीको आसन बनानेसे दुःखकी प्राप्ति, काष्ठासनसे दुर्भाग्यका उदय, वंशनिर्मित आसनसे दरिद्रता, पाषाणनिर्मित आसनसे व्याधिकी उत्पत्ति, तृणके आसनसे यशकी हानि, पल्लवके आसनसे चित्तविभ्रमकी प्राप्ति और वस्त्र-निर्मित आसनसे जप, ध्यान और तपकी हानि हुआ करती है, इस कारण ये सब आसन निषिद्ध हैं। सिंहचर्म, व्याघ्रचर्म और कृष्णसारचर्मपर गुरुदीक्षाविहीन गृहीको कदापि बैठना उचित नहीं है। ऐसे आसनोंपर गृहस्थगण केवल गुरुआज्ञा पानेसे ही बैठ सकते हैं। परन्तु स्नातक ब्रह्मचारिगणको इन आसनोंपर उदासीनके समान बैठना चाहिये। उचित आसनपर बैठकर 'पृथ्वी' इस मंत्रके

ऋषिका नाम उच्चारण पूर्वक, यथा—'मेरुपृष्ठ' आदि क्रमसे छन्द आदिका उच्चारण कर "आसने विनियोगः" द्वारा आसनकी शुद्धि करके सुखपूर्वक जप पूजा आदि करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है और अन्यथा करनेसे साधनकार्य्य निष्फल हुआ करता है। इन सब विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(४) पञ्चाङ्गसेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

गीतासहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च।
हृदयं चेति पञ्चैते पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः॥

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय इन्हें विद्वानोंने पञ्चाङ्ग कहा है। स्व स्व उपासना सम्प्रदायके अनुसार गीता और स्व स्व पद्धतिके अनुसार सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदयके प्रतिदिन पाठ करनेसे योगी कल्मषरहित होता हुआ योगसिद्धिको प्राप्त करता है। पञ्चोपासनाके अनुसार गीता पांच हैं—भगवद्गीता, गणेशगीता, भगवतीगीता, सूर्य्यगीता तथा शिवगीता। इसी प्रकार सहस्रनाम भी पृथक् पृथक् पांच हैं। और अनेक पद्धतियोंके अनुसार स्व स्व उपासनामूलक स्तव, कवच और हृदय अनेक हैं, सो साधकको गुरूपदेशद्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। सब गीताओंमें जगज्जन्मादिकारण विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके विचित्र भावमय विज्ञानका वर्णन किया है, क्योंकि पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है।

(५) आचार—साधकोंके अर्थ त्रिविध आचारोंका वर्णन आचार्योंने किया है। यथा—दिव्य, दक्षिण और वाम। साधकके अधिकार सात कहे गये हैं। यथा-दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक महाभिषेक और तद्भाव। आचारोंके विषयमें विस्तृत वर्णन तंत्रग्रंथोंमें द्रष्टव्य है।

(६) धारणा—बाह्य तथा आभ्यन्तरभेदसे धारणा दो प्रकारकी

होती है। मंत्रयोगमें धारणा परम सहायक है। बहिः पदार्थोंमें मनके योगसे बहिर्धारणाका साधन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगत्के विषयोंमें मनके योगसे अन्तर्धारणाका साधन होता है। धारणाकी सिद्धि श्रद्धा और योगमूलक है।

(७) दिव्यदेशसेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधराभ्निःसरतीह केवलम् ।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः ॥

जिस प्रकार गौके सर्वशरीरमें दुग्ध व्याप्त रहनेपर भी केवल स्तनद्वारा ही क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माकी शक्ति सर्वव्यापक होनेपर भी उसका विकाश दिव्यदेशोंके द्वारा ही होता है। योगशास्त्रमें सोलह प्रकारके दिव्यदेश कहे गये हैं। यथा—

वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्य-यन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय तथा मूर्द्धा ये ही सोलह दिव्यदेश हैं। इन दिव्य देशोंमें किस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश होता है, सो 'विग्रह' या प्रतिमारूप दिव्यदेशमें शक्तिविकाश-के प्रसङ्गमें पूर्णरूपसे पहले ही वर्णन किया गया है। साधकके अधिकारानुसार इन दिव्यदेशोंमें उपासना करनेका उपदेश उसको प्राप्त होता है। योगसिद्धि प्राप्त करनेमें ये सभी परम हितकर हैं। धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशोंमें इष्टदेवताका आविर्भाव होता है। मृण्मय आदि मूर्त्तिमें प्रथम देवताका आवाहन करके पूजा आरम्भ करना उचित है, परन्तु प्रतिष्ठित देवविग्रह, संस्कृत अग्नि अथवा जलमें आवाहन और विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रहती।

(८) प्राण क्रिया—मन, प्राण और वायु ये तीन एक सम्बन्धसे

युक्त हैं। वायु और प्राण, कार्य और कारणरूप हैं। इस कारण प्राणायाम क्रियाके साथ न्यास क्रियाका एकत्व सम्बन्ध है। प्राणायामके विस्तारित भेद हठयोगके आचार्यौने वर्णन किये हैं जो आगे बताये जायंगे। मन्त्रयोगमें सहित प्राणायाम ग्रहण किया गया है और सहज प्राणायामका भी उपदेश कोई कोई आचार्य करते हैं। न्यासके कई भेद हैं उनमेंसे सात प्रधान हैं जो यथाधिकार गुरुदेवसे सीखने योग्य हैं। साधारण उपासनामें करन्यास और अङ्गन्यास ही उपयोगी होते हैं। विस्तारित उपासनामें ऋष्यादिन्यास तथा मातृकान्यास अवश्य करणीय हैं। इन सबोंके प्रमाण तथा विस्तृत वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं।

(६) मुद्रा—योगशास्त्रमें लिखा है—

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसन्ततेः।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥

मुद्राओंके द्वारा देवताओंका आनन्दवर्द्धन होता है और साधकके पापोंका भी नाश होता है। इस कारण मुनियोंने इनकी मुद्रासंज्ञा की है। पूजन, जप, ध्यान, आवाहन आदि कार्यौंमें उन कार्योंके लक्षणानुसार मुद्राओंका प्रदर्शन करना उचित है। आवाहन आदि नौ प्रकारकी मुद्रा सर्वसाधारणी मानी गई है। अन्यान्य देवदेवियोंके प्रीत्यर्थ अनेक मुद्राओंका वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है। ज्ञानमुद्रा, भक्तिमुद्रा, तपोमुद्रा, कर्ममुद्रा, दानमुद्रा—इन सब मुद्राओंसे ऋषिगण प्रसन्न होते हैं। वरमुद्रा और अभयमुद्रा आदिसे ऋषि, देवता और पितर तथा लोकत्रयवासी प्रसन्न होते हैं।

(१०) तर्पण—योगशास्त्रमें वर्णन है, यथा—

तर्पणाद्देवताप्रीतिस्त्वरितं जायते यतः।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वेन योगिभिः॥

देवतागण तर्पण द्वारा शीघ्र तृप्त होते हैं, इस कारण इसका नाम

तर्पण है। तर्पण निष्काम तथा सकाम भेदसे दो प्रकारका होता है। कामनाके अनुसार तर्पण करनेके द्रव्य भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं। तर्पण मन्त्रयोगका एक प्रधान अङ्ग है। इष्ट तर्पणके अनन्तर ऋषितर्पण, अन्य देवतर्पण और पितृतर्पण करनेकी विधि है। तर्पणकी विशेषता यह है कि विधिपूर्वक तर्पण करनेसे देवयज्ञ, भूतयज्ञ और पितृयज्ञ करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अपने इष्टदेवको शीघ्र प्रसन्न करनेकी इच्छा यदि कोई रक्खे तो विधिपूर्वक प्रतिदिन तर्पण किया करे। मधुसे तर्पण करनेसे सकल अभीष्ट पूर्ण होते हैं, मन्त्रकी सिद्धि होती है और सम्पूर्ण महापातक नष्ट हो जाते हैं। घृतसे तर्पण करनेसे पूर्ण आयु होती है। आरोग्य-प्राप्तिके लिये दुग्धसे तर्पण करना चाहिये। नारिकेलजलयुक्त जलसे तर्पण करनेसे निखिल अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकारके तर्पणके फल आर्य्यशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं।

(११) हवन—योगशास्त्रमें हवनविधि निम्नलिखित रूपसे वर्णित की गई है—

अर्घ्योदकसे भूमिशोधन करके तीन रेखा खींचे और विधिपूर्वक अग्नि लाकर—"क्रव्यादेभ्यो नमः" इस मन्त्रका तथा मूलमन्त्रका उच्चारण करके कुण्डमें, स्थण्डिलमें अथवा भूमिपर व्याहृतित्रयसे अग्नि स्थापन करे। स्वाहान्तमन्त्रसे तीन बार हवन करके षडङ्ग हवन करे और स्व स्व सम्प्रदायानुसार इष्टदेवका आवाहन करके मूलमन्त्रसे षोड़श आहुति देवे। इस प्रकार हवन करके स्तुति करे और इन्दुमण्डलमें उसका विसर्ज्जन कर देवे। नित्य होमके द्वारा इष्टदेव प्रसन्न होते हैं, सब देवियोंकी तृप्ति तथा अभीष्टसिद्धि होती है। वैष्णव, शाक्त, शैव आदि सभी सम्प्रदायोंके साधकोंको नित्य हवन करना उचित है।

प्रथम इष्टदेवके प्रीत्यर्थ आहुति देकर अन्य देवदेवियोंको इष्टदेवके अङ्गीभूत समझ कर उनके संवर्द्धनार्थ भी आहुतिप्रदान करना उचित है।

(१२) बलि—इष्ट उपासनामें विना विघ्नोंकी शान्तिके सफलता नहीं होती। विघ्नोंकी शान्तिके लिये बलिदान किया जाता है। बलिके साधनमें आत्मबलि सबसे श्रेष्ठ है। आत्मबलि द्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य होता है। बलिके साधनमें काम क्रोधादिक रिपुओंकी बलि द्वितीय स्थानीय है। ये सब अन्तर्यागसे सम्बन्ध रखने वाले विषय हैं। पूजाके अनन्तर अवशिष्ट द्रव्य द्वारा जो बलि दी जाय, तो इष्टदेवकी प्रसन्नताके अर्थ उत्तम फलोंकी बलि दी जाती है। किसी किसी सम्प्रदायमें यज्ञ-पशुओंकी बलि देनेकी भी विधि प्रचलित है। ये सब बलिके भेद त्रिगुणभेदसे माने गये हैं जिसका वर्णन तथा स्वरूपनिर्णय ग्रंथान्तरमें किया जा चुका है। प्रथम विधिपूर्वक अपने इष्टदेवको बलि समर्पण करके अन्य देवताओंको बलि देवे और भक्तियुक्तसाधक तदनन्तर पितरोंके तृप्त्यर्थ बलिदान करे। पुनः भूतोंकी तृप्तिके लिये श्वा, श्वपचको अन्न दे और पक्षियोंकी तृप्तिके लिये भूमिपर अन्न रक्खे। यह वैश्वदेवविधि प्रातः और सन्ध्याके समय करना उचित है।

(१३) याग—अन्तर्याग और बहिर्याग भेदसे याग दो प्रकारका होता है। अन्तर्यागकी महिमा सर्वोपरि है। मानस याग, मानस जप तथा मानस कर्मके लिये कालशुद्धि, देशशुद्धि और शरीरशुद्धिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। वह सब समयमें समानरूपसे हो सकता है। षोडश दिव्यदेशोंमेंसे किसी देशके अवलम्बनसे यागका साधन करना उचित है। स्थूलदेशसे सूक्ष्मदेश कोटिगुण फलप्रद है। यागकी सिद्धिके अनन्तर जपकी सिद्धिके साथ ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। यागकी

सिद्धिके द्वारा देवताका साक्षात्कार और दिव्यदेशोंमें इष्टदेवका आविर्भाव भी होता है।

(१४) जप—योगशास्त्रमें लिखा है—

मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्त्तितः।
जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः॥

जो मनन करनेसे त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं। जप करते करते साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सांसारिक विषयोंसे मनको हटा कर मन्त्रके अर्थका अनुगमन करता हुआ और उच्चारणमें न बहुत शीघ्रता तथा न विलम्ब किन्तु मध्यम वृत्तिसे जप करे। मन्त्रका बार बार आवर्त्तन करनेको जप कहते हैं, वह तीन प्रकारका होता है। यथा—मानस, उपांशु और वाचिक। जिस मन्त्रको जप करने वाला भी न सुन सके वह मानसिक जप है। उपांशु जप उसे कहते हैं कि जो जप करने वालेको सुनाई पड़े, और जो मन्त्र वचनसे उच्चारण किया जाय और दूसरेको भी सुनाई पड़े वह वाचिक जप है। वाचिक जपसे उपांशु जप और उपांशुसे मानस जप श्रेष्ठ है। अति शनैः शनैः जप करनेसे रोग होता है और अति शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय होता है। अतः परस्परमें मिला हुआ मौक्तिकहारकी नाईं जप करे। जो साधक जप करते समय मन, शिव, शक्ति और वायुका संयम न कर सके, वह चाहे कल्प पर्यन्त क्यों न जप करे परन्तु सिद्धि दुर्लभ ही है। उपासकोंको उचित है कि देवमन्दिर अथवा साधन उपयोगी पवित्र एकान्त घरमें बैठ कर साधन करे। साधन-स्थान गोमय, गङ्गाजल आदिसे संशोधित रहना उचित है। और उत्तम भावपूर्ण चित्रोंसे परिशोभित रहना उचित है जिससे चित्तमें पवित्रता उत्पन्न हो। साधनगृहमें तामसिक और राजसिक कार्य तथा असत् पुरुषोंका प्रवेश होना उचित नहीं है। मोक्षाभिलाषी

साधक गंगातट, पञ्चवटी, अरण्य, स्मशान, तीर्थ आदि प्रदेशोंको स्व स्व सम्प्रदायके अनुसार सेवन करके साधन करें। विशेष सिद्धिलाभ करनेकी इच्छा हो तो भूगर्त्तमें योगगुहा बनाकर निरुपद्रव हो साधन करें।

उपासनाभेदसे बीजमन्त्र अलग अलग हैं। यथा—कृष्णबीज, रामबीज, शिवबीज, गणपतिबीज इत्यादि। ये सब आठ प्रकारके मूलबीजसे अतिरिक्त हैं। पुनः बीजके साथ मूलबीज मिलकर अथवा एक बीजके साथ अन्य बीज मिलनेसे मन्त्रोंकी शक्तिका वैचित्र्य उत्पन्न होता है और पुनः मन्त्र शाखा पल्लवसे संयुक्त होनेपर अन्यभावको धारण करता है। मन्त्रविशेषमें बीज, शाखा और पल्लव तीनों होते हैं। शान्ति पुष्प है, इष्टसाक्षात्कार फल है, शाखा और पल्लव केवल भावमय हैं और शक्ति बीजमें निहित रहती है। दृष्टान्तरूपसे कहा जाता है कि, जैसे "ओं क्लीं कृष्णायनमः" इस मन्त्रमें ओं प्रणवरूप सेतु है, क्लीं बीज है 'कृष्णाय' शब्द शाखा है और 'नमः' पल्लव है। चित्तवृत्तिकी शान्ति साधकके लिये पुष्परूप है और श्रीकृष्णरूप इष्टदेवका साक्षात्कार फलस्वरूप है। यही मन्त्र-विज्ञानका गूढ़ रहस्य है। कोई कोई मन्त्र बीजरहित और शाखा-पल्लवसे युक्त रहता है। वह भावप्रधान मन्त्र कहाता है। साधककी प्रकृति, प्रवृत्ति, उपासनाधिकार और चित्तसंवेगकी परीक्षा करके मन्त्रोपदेश देनेपर अवश्य ही साधकको पूर्ण फलकी प्राप्ति होती है। उपनिषद् और मन्त्रशास्त्रोंके ज्ञाता योगी ही मन्त्रका विस्तार ज्ञान करने और यथाधिकार उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं। प्रणव, प्रधानबीज, उपासनाबीज, शाखापल्लवसंयुक्तबीज बीजरहित शाखापल्लवयुक्त मन्त्र इस प्रकार मन्त्रके पाँच भेद हैं। साधककी प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकारकी परीक्षा द्वारा यथावत् मन्त्रोपदेश दिया जाता है। इन विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१५) ध्यान—अध्यात्मभावसे ही मन्त्रयोगके ध्यानोंका आविर्भाव हुआ है । जैसा कि पहले विशदरूपसे वर्णन किया गया है। अपने अपने इष्टदेवके रूपको मनसे जाननेको ध्यान कहते हैं। ध्यान ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। जैसे जैसे मनुष्य आत्मध्यान करता है, वैसे ही उसको समाधिकी प्राप्ति होती है। आत्मा केवल ध्यानके ही द्वारा वशीभूत होता है। इस प्रकार जिस मनुष्यकी आत्मा जहाँ प्रसक्त होती है, वहीं उसे समाधि प्राप्त होती है। नदीका जल जिस प्रकार समुद्रमें जानेसे समुद्रजलसे अभिन्न होता है उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा ध्यानके परिणाममें तद्भाव प्राप्त करके परमात्मासे अभिन्न हो जाती है ।

(१६) समाधि—जिस प्रकार लययोगकी समाधिको महालय और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं, उसी प्रकार मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव कहते हैं। जबतक त्रिपुटी रहती है तबतक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटीके लय हो जानेसे महाभावका उदय होता है। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय होकर त्रिपुटीका नाश होनेपर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है। प्रथम मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध रहता है । परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरेमें लय होते हुए ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटी लय हो जाती है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु और रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकाश होता है। क्रमशः मन लय होकर समाधिका उदय होता है। समाधिप्राप्ति द्वारा साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभावप्राप्ति ही मन्त्रयोगका चरम लक्ष्य है ।

हठयोग।
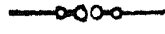
चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभ करनेके लिये अनुष्ठित द्वितीय श्रेणीकी क्रियाओंका नाम हठयोग है। यह विषय स्मरण रखने योग्य है कि मन्त्र, हठ, लय, राज इन चारों प्रकारके योगोंके भीतर जितने प्रकारकी क्रियाएँ बताई गई हैं उनमेंसे अधिकांश क्रियाएँ गुप्त तथा गुरुमुखवेद्य होनेके कारण प्रकाशित शास्त्रीय ग्रन्थोंमें उनकी सम्यक् विधियाँ नहीं मिल सकती हैं। और शास्त्रोंमें कहीं कहीं जो कुछ क्रियाएँ वर्णित देखनेमें भी आती हैं, उनमेंसे बहुतसे वर्णन असम्पूर्ण रक्खे गये हैं क्योंकि क्रियाओंको गुप्त न रखनेसे पूर्णफलकी प्राप्ति नहीं होती है और अनधिकारीके लिये बुद्धिभेद भी होता है। वे सब क्रियाएँ जब गुरुदेवके द्वारा प्राप्त हो जाती हैं तभी पूर्णस्वरूपमें परिज्ञात होकर पूर्णफल प्रदान कर सकती हैं। यह बात पहले ही कही गई है कि श्रीभगवान् पतञ्जलि कृत योगदर्शनमें जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्ग योगके लक्षण बताये गये हैं, ये ही आठ अङ्ग चतुर्विध योगविधियोंके मूलरूप हैं। केवल क्रियाराज्यमें सुविधाके लिये कहीं कहीं अङ्गोंकी वृद्धि या अल्पता देखनेमें आती है। जहाँपर अङ्गोंकी वृद्धि है वहाँ उन्हीं आठ अङ्गोंके आश्रयपर ही वृद्धि की गई है और जहाँ ह्रास है, वहाँ एक अङ्गमें दूसरेका अन्तर्भाव किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

योगके अष्टाङ्गोंका वर्णन केवल योगदर्शनमें ही नहीं अधिकन्तु श्रुतिमें भी कई स्थानोंमें इसका वर्णन साक्षात् या परोक्षरूपसे किया गया है।

"हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः"

हठयोगके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध तथा शान्तिलाभ होता है इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा श्रुतिने हठयोगका समर्थन किया है।

हठयोगके लक्षणके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम्।
मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥
आमकुम्भमिवाऽम्भःस्थं जीर्यमाणं सदा घटम्।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्॥
हठयोगेन प्रथम जीर्यमाणमिमां तनुम्।
दृढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुज पुनः॥
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः।
कादि वर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम्॥
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्त्तितः॥

प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा और परमात्माके मेलसे उत्पन्न होनेके कारण स्थूल शरीरका नाम घट है। जलमध्यस्थित आमकुम्भकी तरह शरीररूपी यह घट सदा ही जीर्ण रहा करता है। इसलिये योगरूपी अनलके द्वारा दग्ध करके इस घटकी शुद्धि करनी चाहिये। जीर्णभावयुक्त स्थूलशरीरको हठयोगके द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्मशरीरको भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूल-शरीर सूक्ष्मशरीरका ही परिणाममात्र है। इसलिये जिस प्रकार ककारादि वर्णोंके अभ्यास द्वारा क्रमशः शास्त्रज्ञान लाभ होता है, उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा प्रथमतः स्थूल शरीरको वशमें लाकर क्रमशः सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्तिका निरोध किया जा सकता है उन साधनोंकी हठयोग संज्ञा होती है।

सांख्य विज्ञानके अनुसार जैसा कि पहले कहा गया है सृष्टिको

चौबीस तत्त्वामें विभक्त किया गया है। उन्हीं चौबीस तत्त्वात्मक यह प्राकृतिक जगत् है। और पुरुष इनसे पृथक् एक पचीसवाँ तत्त्व है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।

चौबीस तत्त्वोंमेंसे मूल प्रकृति, अहंतत्त्व, मन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पँच तन्मात्रायें, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् ये पंच ज्ञानेन्द्रिय, और वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इस प्रकार उन्नीस तत्त्वात्मक यह सूक्ष्म शरीर है। और पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों स्थूलभूत-मिलित पंचतत्त्वात्मक स्थूल शरीर है। पुरुषरूपी पचीसवाँ तत्त्व इन स्थूल सूक्ष्म शरीरोंका द्रष्टा मात्र है, वह इनसे निर्लिप्त रहता है।

सनातनधर्मके शास्त्रोंमें मृत्यु कहकर कोई विशेष अवस्था मानी नहीं गई है। पंचतत्त्वात्मक स्थूलदेहको उन्नीस तत्त्वात्मक सूक्ष्म-देह जब त्याग करके दूसरे स्थूलदेहको धारण करता है तब वही त्याग और ग्रहणकी सन्धि मनुष्यलोकमें मृत्युके नामसे कही जाती है। जीवका जब निर्दिष्ट कर्म्मोंका भोग हो जाता है अर्थात् जिन संस्कारोंके कारण प्रथम जीवको वर्त्तमान स्थूलदेह धारण करना पड़ा था, जब उन संस्कारजन्य कर्म्मोंका भोग होजाता है, तब उसमें अन्य कर्म्मोंके भोगका अवसर उपस्थित होता है। वही नूतन रूपसे अंकुरित कर्मोंके भोगके लिये पुराने वस्त्रको छोड़कर नवीन वस्त्र धारणकी नाई जीवको एक स्थूलदेहको छोड़कर दूसरा स्थूल-देह धारण करना पड़ता है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता)

सूक्ष्म शरीर उस प्रथम देहको त्याग करके जानेसे उक्त त्याग किये हुये देहकी "मृत्यु हुई" ऐसा लोग समझते हैं। वस्तुतः जीवकी मृत्यु नहीं है। केवल जीव बारम्बार स्थूल देहको परि-वर्त्तन करता हुआ आवागमन चक्रमें घूमा करता है।

जब देखा जाता है कि सूक्ष्म शरीरके तीव्रसंस्कारसे उत्पन्न हुए कर्म्मोंके भोगके आश्रयरूपी जीवका स्थूल शरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीरके भावके अनुरूप ही स्थूल शरीरका संगठन होता और सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर एकही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या संदेह है कि स्थूल शरीरके कार्य्योंके द्वारा सूक्ष्म शरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सक्ता है? फलतः अधि-कारी विशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योग क्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है। जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूल शरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ स्थूल शरीरपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योग-प्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगसे हठयोग-साधनमें कुछ विशेषता है। मन्त्रयोग साधनमें बहिराचारोंके साथ अधिक सम्बन्ध है, शरीरसे वहिः-पदार्थोंके साथ घनिष्ठता रक्खी गई है और मन्त्रयोगके साथ जिस प्रकार वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, पुरुषधर्म्म, नारीधर्म्म, आर्य्यधर्म्म, अनार्य्यधर्म्म आदि विशेष धर्मोंसे विशेष विशेष सम्बन्ध है, हठयोग-क्रियाकी प्रणालीमें ऐसा कोई सम्बन्ध देखनेमें नहीं आता है। यद्यपि

हठयोगमें पात्रापात्रका विचार रक्खा गया है, परन्तु वह विचार जगत् सम्बन्धसे नहीं है, शरीर सम्बन्धसे है। मन्त्रयोगके अनुसार किसी पुरुषको जो मन्त्र उपदेश किया जायगा किसी स्त्रीको उस मन्त्रका उपदेश कहीं कहीं नहीं देनेकी भी आज्ञा पायी जाती है। ब्राह्मणको जिस मन्त्रका उपदेश हो सक्ता है शूद्रके लिये उसकी मनाई हो जायगी। इस प्रकार मंन्त्रयोगमें वहिर्जगत्के साथ सम्बन्धकी समताकी रक्षा करके उपदेशादि देनेकी विधि मिलती है। हठयोगमें अधिकारीके शारीरिक तारतम्य और अधिकार मात्रको देखकर दीक्षा देनेकी विधि मिलती है। शरीर अकर्म्मण्य होनेसे उसको साधनोपयोगी बनालेनेकी कोई व्यवस्था मन्त्रयोगमें कुछ विशेषरूपसे नहीं है, परन्तु हठयोगमें अकर्म्मण्य शरीरको योगसाधनोपयोगी करलेनेकी और श्लेष्मादि अपवित्रता-को दूर करके शरीरको पवित्र बना लेनेकी बहुतसी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठ-योगमें वैसा ज्योतिः कल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रक्खी गई है। अन्तर्जगत्के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देवदेवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योति-र्मयरूपकी कल्पना पूर्वक ध्यान अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग समाधिमें नामरूपोंकी सहायतासे समाधि लाभ करनेकी साधन प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधि लाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग समाधिको महाभाव और हठयोग समाधिको महाबोध समाधि कहा जाता है। अस्तु, मन्त्रयोगी यदि हठयोगकी सहायता ले तो उससे उसे जिस प्रकारकी सुविधा हो सकती है उसी प्रकार हठयोगी भी

यदि मन्त्रयोग प्रणालीसे कुछ कुछ सहायता ले तो हठयोगीको भी उन्नति लाभ करनेमें बहुत कुछ सुविधा मिलेगी।

योगाचार्य्य महर्षियोंने कहा है कि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन भावत्रयोंके अनुसार मन, वायु तथा वीर्य्य ये तीनों ही एक हैं। इसी लिये मनको वशीभूत करनेसे वीर्य्य और वायु आपसे आप वशीभूत हो जाते हैं। वायुको वशीभूत करनेसे मन तथा वीर्य्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं। और सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा वीर्य्यको वशीभूत करके ऊर्द्ध्वरेता हो जानेसे मन तथा प्राण-वायु अनायास उस योगीके वशमें आ जाते हैं। राजयोगमें बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंसे अधिक सम्बन्ध रक्खा गया है। और मन्त्र, हठ तथा लय इन तीन प्रकारकी योगप्रणालियोंमें मन, वायु तथा वीर्य्य इन तीनोंका सम्बन्ध अधिकरूपसे है। इनमेंसे लययोगमें मनकी क्रियाका आधिक्य और मन्त्र तथा हठयोगमें वायु-धारण तथा रेतोधारण सम्बन्धीय क्रियाओंकी अधिकता देखी जाती है। शास्त्रोंमें मन्त्रयोगीके लिये ब्रह्मचर्य्य रक्षा और रेतोधारणकी विशेष आवश्यकता वर्णन की गई है। और हठयोगीके लिये वे सब तो चाहिये, उपरान्त प्राणायामसिद्धि तथा वायुनिरोधके लिये विशेष व्यवस्था रक्खी गई है; जो नीचे क्रमशः बताई जायगी।

अब हठयोगके अङ्गोंका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्रमें लिखा है—षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।

ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानिस्युर्हठस्य योगस्य॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि हठयोगके ये सात अङ्ग हैं। इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधन द्वारा क्या क्या फल प्राप्ति होती है सो योगशास्त्रमें वर्णित है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः ।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ॥

षट्कर्म द्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधन द्वारा लाघव, ध्यान द्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है। इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवाय हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधन द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य विषयक भी विशेष लाभ होता है जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। हठयोगका प्रथम अङ्ग षट्कर्मसाधन है। जिसके लिये योगशास्त्रमें लिखा है:—

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति षट्कर्मके ये छः साधन हैं। इन सबके पृथक् पृथक् लक्षण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं।

हठयोगके द्वितीय अङ्गका नाम आसन है। जिसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है:—

अभ्यासाद् यस्य देहोऽयं योगौपयिकतां व्रजेत् ।
मनश्च स्थिरतामेति प्रोच्यते तदिहासनम् ॥
आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवयोनयः ।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि तु ॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
आसनानि त्रयस्त्रिंशन्मर्त्यलोके शुभानि वै ॥

जिसके अभ्याससे शरीर योगोपयुक्त तथा मन स्थिर हो जाता है उसका नाम आसन है। जगत्में जितनी जीवयोनियाँ हैं उतने ही आसन हैं। महादेवजीने पुराकालमें चौरासी लाख आसनोंका

वर्णन किया था; उनमेंसे चौरासी आसन विशेष हैं और मर्त्यलोकमें तेतीस आसन मङ्गलजनक हैं । इन तेतीसोंके नाम यथा—

सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येंद्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्ता-नासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडा-सन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन ये तेतीस सिद्धिदायक आसन हैं ।

कैसे देशमें आसन करके साधन करना चाहिये इसके विषयमें योगशास्त्रका उपदेश है कि सुराज्य, सुधार्मिक, सुभिक्ष तथा उप-द्रवरहित देशमें, शिला, अग्नि और जलसे अलग रहकर एकान्त-स्थानमें छोटीसी कुटी बनाकर उसके बीचमें बैठ कर योगसाधन करना चाहिये । साधनगृहका द्वार छोटा होना चाहिये, उसमें कोई गर्त्त नहीं होना चाहिये, बहुत ऊँचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये, उसमें मकड़ीका जाला वगैरह नहीं होना चाहिये, वह गोमयसे लीपा हुआ तथा कीटोंसे रहित होना चाहिये । इस प्रकारके स्थानमें चित्तको अन्यान्य चिन्ताओंसे रहित करके गुरूप-देशानुसार आसन बांधकर साधन करना योगीका कर्त्तव्य है । आसनोंके विस्तृत लक्षण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं ।

हठयोगके तृतीय अङ्गका नाम मुद्रा है । इसके विषयमें योग-शास्त्रमें लिखा है—

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो धारणध्यानके ।
समाधिः साधनाङ्गानामेषां सिद्धौ हि या हि ता ॥
साहाय्यमादधातीह सुकौशलभरा क्रिया ।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

सहायिका भवेन्मुद्रा सर्वाङ्गानां हि काचन।
काचिच्च तत्तदङ्गानामुपकारं करोति वै॥
महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
ताडागी चैव माण्डूकी शाम्भवी पञ्चधारणा॥
आश्विनी पाशिनो काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशतिमुद्राः स्युः सिद्धिदा योगिनां सदा॥

जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी साधनाङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है ऐसे सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको मुद्रा कहते हैं। कोई मुद्रा इनके सब अङ्गोंकी सहायता करती है और कोई कोई इनमेंसे विशेष अङ्गोंकी सहायता करती है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जालन्धर-बन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोलिमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, ताड़ागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणामुद्रा, आश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा और भुजङ्गिनी मुद्रा ये पचीस मुद्रायें हैं; इनके साधनसे योगियोंको योगसिद्धि प्राप्त होती है। सब मुद्राओंका वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

मुद्राओंके साधन द्वारा योगमार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकोंको अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्राओंके द्वारा प्राणायामसिद्धिकी सहायता, प्रत्याहारमें सहायता, धारणामें सहायता और बिन्दुध्यानमें सहायता इस प्रकारसे अनेक क्रियाओंमें सहायता प्राप्त होती है। प्रथमतः प्राणायामकी सिद्धिमें मुद्रायें विशेषरीत्या सहायक होती हैं और प्रत्याहार उत्पन्न करके धारणामें विशेष सहायक होती हैं। इसीकारण मुद्रा द्वारा स्थिरता उत्पन्न होती है ऐसा कहा गया है।

हठयोगके चतुर्थ अङ्गका नाम प्रत्याहार है। षट् कर्म, आसन तथा मुद्राके साधनोंमें सिद्धि प्राप्त करके गुरुआज्ञानुसार साधक प्रत्याहारका साधन करेंगे। जिसके फलसे शीघ्रही प्रकृतिजय तथा कामादि रिपुओंका नाश हो जायगा। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें लिखा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

चञ्चल मन जहाँ जहाँ पर भागने लगता है, उन सभी स्थानोंसे मनको हटाकर आत्मामें ही संयत करे। यही प्रत्याहारकी क्रिया है। तदनुसार हठयोग शास्त्रमें लिखा है—

यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति।
ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
मधुराम्लकतिक्तादिरसं याति यदा मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

जहाँ जहाँपर दृष्टि जाती है वहाँ मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहार द्वारा मनको वहाँसे हटाकर आत्मामें वशीभूत करें। शीत हो या उष्ण, मन स्पर्शयोगसे विषयमें सम्बद्ध होता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें संयत करे। सुगन्ध हो अथवा दुर्गन्ध मन घ्राणेन्द्रियके योगसे विषयमें बद्ध हो जाता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें एकाग्र करें। मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रसोंमें रसनेन्द्रियकी सहायतासे मन जाता रहता है, इसलिये वहाँसे मनको हटाकर आत्मामें केन्द्रीभूत करें। यही सब प्रत्याहारकी क्रियाएँ हैं।

जब योगी बहिर्जगत्‌की आसक्तिको छिन्न करके अन्तर्जगत्‌में प्रवेश करनेमें समर्थ होने लगता है, तभी प्रत्याहारकी सिद्धि उत्पन्न होती है और इसी कारण प्रत्याहारके द्वारा आध्यात्मिक धैर्य उत्पन्न होता है और इसी समयसे योगीको अन्य प्रकारकी दैवी सिद्धियोंके प्राप्त करनेकी सम्भावना रहती है।

किन्तु सिद्धियाँ परम सुखकर होनेपर भी सर्वथा निन्दनीय तथा हेय हैं। आत्मोन्नतिके इच्छुक योगी वैराग्यकी सहायतासे उनमें विमोहित न हों ऐसा ही योगानुशासन है। क्योंकि स्थूल-जगत्‌की रजतकाञ्चनादि स्थूल सम्पत्तियोंको तरह सिद्धियाँ भी सूक्ष्मजगत्‌की सम्पत्तिविशेष हैं। अतः इनमें फँस जानेपर विषय-बद्ध जीवोंकी तरह सिद्धिरूप सूक्ष्मविषयबद्ध योगी परमात्माके राज्यमें अग्रसर नहीं हो सकते हैं। उनकी सारी उन्नतियोंका पथ रुद्ध हो जाता है और पतनकी भी सम्भावना हो जाती है। इसलिये श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

सिद्धियाँ समाधिदशाके लिये विघ्नमात्र हैं परन्तु व्युत्थान-दशामें हितकर हैं। क्योंकि व्युत्थानदशामें सिद्धियोंका चमत्कार देखनेसे साधकके हृदयमें दैवजगत्‌के प्रति विश्वास दृढ़ होता है और साधनमार्गमें रुचि बढ़ती है। जिस प्रकार बालकको मिठाईका लोभ देकर पढ़नेमें रुचि बढ़ाई जाती है, उसी प्रकार साधन मार्गमें प्राथमिक दशाके साधकोंके लिये सिद्धिका लोभ साधनमार्गमें प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाला है। इसका इतना ही प्रयोजन हृदयङ्गम करके मुमुक्षुसाधकको विचलित तथा मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये और अनायासप्राप्त सिद्धियोंके प्रति उपेक्षा करके आध्यात्मिक मार्गमें धीरताके साथ पुरुषार्थपरायण होना चाहिये।

हठयोगके पञ्चम अङ्गका नाम प्राणायाम है। जिसके विषयमें योग-शास्त्रमें वर्णन है—

प्रधानशक्तयः प्राणास्ते वै संसाररक्षकाः।
वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेव हि॥
प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः।
यया जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते।
मन्त्रे स्याद्धारणा मुख्या त्रिभेदास्तु जपक्रियाः।
हठे वायुप्रधाना वै प्रोक्ता प्राणजपक्रियाः॥
मनःप्रधानो भवति साध्या सूक्ष्मक्रिया लये।
सा च वायुप्रधाना हि सर्वश्रेयस्करी मता॥
आदौ स्थानं तथा कालं मिताऽऽहारं ततः परम्।
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात् प्राणायामे च साधयेत्॥

प्राण ही महाशक्ति हैं, प्राण ही जगत्‌के रक्षक है, प्राणके वशीभूत करनेसे सब कुछ जय हो जाता है। स्थूल सूक्ष्म भेदसे प्राणके दो भेद हैं। प्राण जय करनेवाली क्रियाको प्राणायाम कहते हैं। मन्त्रयोगमें प्राणजयक्रिया धारणाप्रधान है। हठयोगमें वायुप्रधान है और लययोगमें जो सूक्ष्म प्राणजय क्रिया होती है, वह मनःप्रधान है। वायुप्रधान प्राणजय क्रिया ही सर्वहितकर है। अब प्राणायामका वर्णन किया जाता है। प्राणायाम-साधनके लिये चार बातोंकी आवश्यकता है। यथा—प्रथम उपयुक्त स्थान, द्वितीय नियमित समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ीशुद्धि। हठयोगशास्त्रमें आठ प्रकारके प्रणायाम बताये गये हैं। यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाऽष्टकुम्भकाः॥

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा

और केवली ये आठ प्राणायाम हैं। इन प्राणायामोंके पृथक् पृथक् लक्षण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं।

हठयोगमें प्राणायामको सर्वोत्कृष्टसाधन करके माना गया है। हठयोगका ज्योतिर्ध्यान और हठयोगकी महाबोध समाधि दोनोंमें ही प्राणजयका साक्षात् सम्बन्ध रहनेसे प्राणायामकी इस प्रकार मुख्यता हठयोगमें मानी गई है। प्राणायामसिद्धि द्वारा प्राणजय होकर मनोवृत्तिका निग्रह शीघ्र हो जाता है।

हठयोगके षष्ठ अङ्गका नाम ध्यान है। इसके विषयमें योग-शास्त्रमें लिखा है—

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक्।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानन्तु त्रिविधं विदुः॥
स्थूलं मूर्त्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं भवेत्।
विन्दुं विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता॥
स्थूलध्यानं हि मन्त्रस्य विविधं परिकीर्त्तितम्।
उपासनां पञ्चविधामनुसृत्य महर्षिभिः॥
एकं वै ज्योतिषो ध्यानमधिकारस्य भेदतः॥
साधकानां विनिर्दिष्टं त्रिविधं ध्यानधाम वै॥
ध्यानं यद्ब्रह्मणस्तेजोमयं दीपस्फुलिङ्गकम्।
ज्योतिर्ध्यानं हि भवति प्रकृतेः पुरुषस्य च॥
अहं ममेतिवत्तौ चाऽभिन्नौ हि परिकीर्त्तितौ।
ध्यानं वै ब्रह्मणस्तेजोमयं रूपं प्रकल्पयेत्॥
ज्योतिर्ध्यानं भवेत्तद्धि प्राप्यं गुरुकृपावशात्।
नाभिहृद्भ्रयुगान्याहुर्ध्यानस्थानं मनीषिणः॥
ध्यानस्थानं विनिर्णीतं साधकस्याधिकारतः।
आधारपद्ममपरं ध्यानस्थानं चतुर्थकम्॥

केचिन्निरूपयन्तीह योगतत्त्वविशारदाः।
सिद्धे ध्याने हि प्रत्यक्षो भवत्यात्मा विशेषतः॥

मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगमें पृथक् पृथक् स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और विन्दुध्यान ये तीन प्रकारके ध्यान नियत किये गये हैं। इनमेंसे मूर्त्तिमान् इष्टदेवमूर्त्तिका जो ध्यान है वह स्थूल ध्यान, जिसके द्वारा तेजोमय ब्रह्मका ध्यान होता है वह ज्योतिर्ध्यान और विन्दुमय ब्रह्म और कुण्डलिनीशक्तिका जो ध्यान किया जाता है वह विन्दुध्यान कहाता है। मन्त्रयोगोक्त स्थूल ध्यानके भेद पञ्चोपासनाके अनुसार अनेक हैं, परन्तु हठयोगके ज्योतिर्ध्यानकी शैली एकही है। केवल ध्यानस्थान साधकके अधिकार भेदसे तीन हैं। दीपकलिकावत् तेजोमय ब्रह्मध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। वह प्रकृति ध्यान भी है और ब्रह्मध्यान भी है। क्योंकि 'मैं और मेरा' जैसा ब्रह्म और प्रकृतिमें अभेद है। ब्रह्मके तेजोमयरूप-कल्पना द्वारा ज्योतिर्ध्यानकी विधि गुरुदेवसे प्राप्त करने योग्य है। नाभि, हृदय और भ्रूयुगल ये तीनों स्थान ज्योतिर्ध्यानके लिये निर्दिष्ट हैं। साधकके अधिकार-भेदसे ही ऐसा निर्देश है। कोई २ योगवित् आधारपद्मरूपी चतुर्थ स्थानका भी निर्देश करते हैं। ज्योतिर्ध्यानकी सिद्धावस्थामें आत्माका प्रत्यक्ष होता है।

हठयोगके अन्तिम अर्थात् सप्तम अङ्गका नाम समाधि है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभाव इतीरितः।
हठस्य च महाबोधः समाधिस्तेन सिध्यति॥
प्राणायामस्य सिद्ध्या वै जीयन्ते प्राणवायवः।
ततोऽधिगम्यते शक्तिः पूर्णा कुम्भकसाधने॥
समाधिर्हठयोगस्य त्वरितं प्राप्यते ततः।
शुक्रं वायुर्मनश्चैते स्थूलकारणसूक्ष्मतः॥

अभिन्नास्तत्र प्राधान्यं वायोरेव विदुर्बुधाः।
शक्तिस्वरूपकत्वाद्धि तन्निरोधान्मनोजयः॥
तस्मान्मनोजयाच्चैव समाधिः समवाप्यते।
प्राणायामे तथा ध्याने सिद्धे वै सोऽधिगम्यते॥
प्राणायामस्योपदेशः कतमायाऽधिकारिणे।
प्रदत्तः कीदृशश्चैव महाबोधप्रदायकः॥
एतत्सर्वं हि विज्ञेयं योगज्ञाद् गुरुदेवतः।
योगक्रियायाः परमं समाधिः फलमिष्यते॥
शरीरतो मनः सम्यगपनीय विजित्य तत्।
स्वस्वरूपोपलब्धिर्हि समाधिरिति चोच्यते॥
अद्वितीयमहं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपधृक्।
नित्यमुक्तोऽस्मीति सदा समाधावनुभूयते॥

मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं। प्राणायाम सिद्धिके द्वारा वायुजय हो जानेपर कुम्भक करनेकी पूर्णशक्ति प्राप्त होनेसे हठयोग समाधि लाभ होता है। वीर्य, वायु और मन ये तीनों स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण सम्बन्धसे एक ही हैं। इन तीनोंमें वायु ही प्रधान है, क्योंकि वायु शक्तिरूप है। वायुके निरोध द्वारा मनका निरोध हो जाता है। इसलिये वायुके निरोधसे मनोलय और मनोलयसे समाधिकी प्राप्ति होती है। प्राणायाम और ध्यानकी सिद्धिके साथही समाधि दशाका उदय होता है। किस अधिकारीको किस प्रकार प्राणायामका उपदेश करनेसे महाबोध समाधिकी प्राप्ति होगी, सो योगचतुष्टयतत्त्वज्ञ गुरुदेवसे ही प्राप्तव्य है। समाधि ही योगसाधनका परमफल है। शरीरसे मनको पृथक् करके उसका लय करते हुए स्वरूपोपलब्धिका नाम समाधि है। समाधि दशामें मनका लय हो जाता है और "मैं ही अद्वितीयब्रह्म सच्चिदानन्दरूप तथा नित्य-

मुक्त हूँ" ऐसा अनुभव होता है। यही हठयोगकी समाधि और अन्तिम साधन है।

सप्ताङ्गसमन्वित हठयोग साधनका यही संक्षिप्त वर्णन है। जिसको श्रीगुरुदेवकी आज्ञानुसार जानकर साधन करनेसे साधक समाधिसिद्धि लाभ करके दुस्तर भवसिन्धुके पार जा सकते हैं।

लययोग।

—+:※:+—

चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभके लिये निर्दिष्ट क्रियाओंका नाम योग है। यौगिकक्रियाओंमें लययोग तृतीयस्थानीय है और इस कारण मन्त्र तथा हठयोगसे सूक्ष्मविज्ञानयुक्त है। वेदमें भीः—

"तस्मिन्नेव लयं यान्ति" "ते लयं यान्ति तत्रैव"

इत्यादि बचनोंके द्वारा लययोगकी पुष्टि की गई है। योगशास्त्रोंमें लययोगका निम्नलिखित लक्षण बताया गया हैः—

ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते॥
ऋषिदेवौ च पितरो नित्यं प्रकृतिपूरूषौ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः॥
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम्।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्य यथायथम्॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः॥
आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते॥

प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां बाह्यसृष्टिः प्रजायते।
योगाङ्गैस्ताम्प्रबोध्यैव यदा तस्मिन्विलोपयेत्॥
कृतकृत्योभवत्येव तदा योगपरो नरः।
पुराविदो वदन्तीमं लययोगं सुखावहम्॥

प्रकृतिपुरुषात्मक शृंगारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टिसम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्त्वसम्बन्धसे युक्त हैं। सुतरां ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्डज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेश द्वारा सब शक्तिसहित पिण्डका ज्ञानलाभ करके तदनन्तर सुकौशलपूर्णक्रिया द्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे लययोग होता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनी नाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्ता हो रही है। उनके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्ग द्वारा उनको जाग्रत करके पुरुषके पास लेजाकर लय कर देनेसे योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम लययोग है।

योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अङ्ग वर्णन किये हैं। यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि ये नव अङ्ग लययोगके हैं। स्थूलशरीरप्रधान स्थूलक्रिया और वायुप्रधानक्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृतिपुरुषात्मक ध्यानको बिन्दुध्यान कहते हैं, यह ध्यान लययोगका परमसहायक है। लययोगानुकूल अतिसूक्ष्म सर्वोत्तमक्रिया जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है ऐसी सर्वोन्नतक्रियाको लयक्रिया कहते हैं। लयक्रियाओंके साधन द्वारा प्रसुप्ता महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लय होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्त्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे

महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृत-कृत्य हो जाता है।

अब इन अङ्गोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया जाता है। लययोगके प्रथम अङ्गका नाम यम है, जिसका लक्षण यह है:—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचन्त्वेते यमा दश॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दश यम हैं।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः॥

मानसिक और वाचनिक तथा कर्मसे किसी समयमें भी किसी प्राणिको दुःख न देना अहिंसा है।

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्।

जिस वचनसे प्राणियोंका हित हो उसे सत्य कहते हैं। केवल यथार्थ बोलना ही सत्य नहीं है।

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निस्पृहा।
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

कर्म, मन तथा वचनसे दूसरेके धनमें अभिलाष न होनेको ही महर्षिगण अस्तेय कहते हैं।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

मन, वाणी तथा कर्मसे भी सब अवस्था, सब समय तथा सब कालमें मैथुन त्याग करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचारी, संन्यासी, नैष्ठिक और वानप्रस्थोंका यही ब्रह्मचर्य है। गृहस्थका ब्रह्मचर्य ऋतु-कालमें स्वस्त्रीसे विधिपूर्वक सङ्गति करनेसे होता है।

सर्वदा सर्वभूतेषु सर्वथानुग्रहस्पृहा।
कर्मणा मनसा वाचा दया सम्प्रोच्यते बुधैः॥

मन, वाणी तथा कर्मके द्वारा सर्वदा सकलप्रकारसे सकल-भूतोंमें अनुग्रहस्पृहाका नाम दया है।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम्।

प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिमें एक रूप रहना आर्जव है।

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम्।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः॥

प्रिय और अप्रिय विषयमें जो मनुष्योंकी एक भावसे स्थिति है, उसको वेदवादी विद्वान्‌गण क्षमा कहते हैं।

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चापि सम्पदि।
भूयः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः॥

अर्थके नाश होनेपर, बान्धवोंसे वियोग होनेपर, सम्पत्ति अथवा विपत्तिके समयमें भी चित्तको दृढ़ रखना धृति है।

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशद्धि गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्॥
तेषामयं मिताहारस्त्वन्येषामल्पभोजनम्॥

मुनिको आठ ग्रास भोजन करना चाहिये। अरण्यवासी वान-प्रस्थको षोडश ग्रास, गृहस्थको बत्तीस ग्रास और ब्रह्मचारीको इच्छाके अनुरूप भोजन करना चाहिये। यह उनका मिताहार कहाता है और अन्य लोगोंका अल्पभोजन ही मिताहार है।

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरन्तथा।

बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे शौच दो प्रकारका होता है। मृत्तिका और जलसे बाह्यशुद्धि होती है। आभ्यन्तर शुद्धि मनको शुद्ध करना है। अध्यात्म विद्या और धर्मसाधनसे मनकी शुद्धि होती है।

लययोगके द्वितीय अङ्गका नाम नियम है। इसका निम्नलिखित लक्षण योगशास्त्रमें बताया गया है।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणश्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥

तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ये नियम हैं।

लययोगके तृतीय अङ्गका नाम स्थूलक्रिया है, जिसमें आसन मुद्रादि सम्मिलित हैं। आसनके विषयमें कहा हैः—

आसनाभ्यासतः कायोऽनुकूलः साधनस्य वै।

आसनके साधन द्वारा शरीर योगसाधनानुकूल बन जाता है। हठयोगमें प्रधानतः तैंतीस आसन हैं। वे सब ही हठयोगमें सहायक हैं। परन्तु लययोगके आचार्योंने केवल तीन आसन लययोग-सहायक समझे हैं। स्वस्तिकासन, पद्मासन और सिद्धासन।

मुद्राके विषयमें योगशास्त्रमें कहा हैः—

योगकौशलपूर्णा या स्थूलकायपरा क्रिया।
मुद्रा निर्दिश्यते सा वै योगशास्त्रविशारदैः॥

योगके सुकौशलसे पूर्ण स्थूलशरीरप्रधान क्रियाको मुद्रा कहते हैं। हठयोगके ज्ञाता महर्षियोंने पच्चीस प्रकारकी मुद्राओंका हठयोगके लिये विधान किया है। परन्तु लययोगतत्त्वदर्शी महर्षियोंने लययोगसिद्धिके अर्थ केवल आठ मुद्राओंका विधान किया है। प्रत्याहारसिद्धिके लिये शाम्भवीमुद्रा, धारणासिद्धिके लिये पञ्च-धारणाकी पांच मुद्रा और ध्यानसिद्धिके लिये शक्तिचालिनी और योनिमुद्रा।

लययोगके चतुर्थ अङ्गका नाम सूक्ष्मक्रिया है, जिसमें प्राणायाम आदि विविध क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

कार्यकारणसम्बन्धात्प्राणः स्थूलो मरुत्तथा।
अभिन्नौ वायुमुख्या या क्रिया सूक्ष्माभिधीयते॥
अन्तर्भवन्तौ सूक्ष्मायां प्राणायामस्वरोदयौ।
वर्णितावृषिभिर्नूनं लययोगविशारदैः॥

प्राण और स्थूलवायु यह कार्यकारणसम्बन्धसे एक ही हैं। वायुप्रधानक्रियाको सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्मक्रियामें प्राणायाम और स्वरोदय अन्तर्गत है, ऐसा लययोगाचार्य महर्षियोंने वर्णन किया है। लययोगके लिये केवल एकही प्राणायाम कहा गया है।

उसको केवलीप्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियोंके विषयको मनसे हटाकर भ्रूयुगलके मध्यमें चक्षु स्थिर करके नासिका और आभ्यन्तरचारी प्राण और अपानको समभावमें परिणत करनेसे केवलीप्राणायामका साधन होता है। जो साधक केवलीप्राणायामका साधन करते हैं, वेही यथार्थमें योगी हैं। केवलीप्राणायामके साधनसे साधकको इस संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं रहता है। इस प्राणायामके साधनको करते हुए तत्कालमें क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि भूमियोंका अनुभव हो सकता है।

स्वरोदय नामक सूक्ष्मक्रियाका वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

लययोगके पञ्चम अङ्गका नाम प्रत्याहार है। इसके लक्षण तथा साधनके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन पाये जाते हैं—

यथा कूर्म्मो निजांगानि समाकुञ्च्य प्रयत्नतः।
प्रापय्यादृश्यतां तेषां निश्चिन्तस्तिष्ठति ध्रुवम्॥
इन्द्रियेभ्यः परावृत्त्य मनःशक्तिं तथा दृढम्।
अन्तर्मुखविधानं यत्प्रत्याहारः प्रकथ्यते॥
अन्तर्जगद्द्वारभूतः प्रत्याहारोऽस्ति तेन वै।
अन्यान्युच्चैः साधनानि लभ्यन्त इति योगिभिः॥

शम्भवीमुद्रयाभ्यासः प्रत्याहारस्य जायते।
सिद्धये चास्य विविधाः क्रियाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥

जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको सिकोड़ कर अदृश्य कर देता है, उसी प्रकार मनकी शक्तिको इन्द्रियोंसे हटाकर अन्तर्मुख करनेको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार अन्तर्जगत्का द्वार रूप है। प्रत्याहारकी सहायतासे अन्य सब उच्चसाधनोंकी सिद्धि होती है। इसी कारण प्रत्याहारकी महिमा अधिक है। शाम्भवी मुद्रा द्वारा प्रत्याहारअभ्यास किया जाता है। प्रत्याहार सिद्धिके लिए अनेक प्रकारकी क्रियाओंका वर्णन महर्षियोंने किया है।

प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही नादका प्रारम्भ होता है। नादकी सहायतासे समाधितककी प्राप्ति होती है। इस कारण प्रत्याहारकी महिमा अनन्त है। योगीके स्थिर हो बैठ कर अपने कर्णोंको अंगुलि द्वारा बन्द करते हुए कर्णध्वनिको श्रवण करनेसे भी नादानुसन्धानक्रिया होती है और इस क्रियासे क्रमशः चित्तमें लयका उदय होता है।

नादके अभ्याससे योगीके चित्तमें बाह्यध्वनिका आवरण हो जाता है और एक पक्षमें ही योगीके चित्तकी चञ्चलता दूर होकर वह आनन्दको प्राप्त हो जाता है। प्रथमाभ्यासमें नाना प्रकारके नाद सुननेमें आते हैं। अनन्तर अभ्यास-वृद्धिके साथ साथ अनेक सूक्ष्मनाद सुननेमें आते हैं। यथा—आदिमें समुद्र-तरङ्गध्वनि, मेघ-ध्वनि, भेरी और झर्झर ध्वनियाँ सुनाई दिया करती हैं। अनन्तर मध्यावस्थामें मर्दल, शंख, घण्टा आदिके शब्द सुननेमें आया करते हैं और अन्तमें प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर हो जानेपर देहमध्यसे नाना प्रकारके किङ्किणी, वंशी, वीणा और भ्रमरगुंजनके नाईं शब्द श्रवण होते हैं।

नादानुसन्धानकी भूमि प्रत्याहारसे लेकर समाधि पर्य्यन्त है

और नाद श्रवणकी क्रमोन्नति क्रमशः होती है, जैसे जैसे योगी अन्त-जंगत्में अग्रसर होता है। नाद ही ब्रह्मस्वरूप है।

लययोगके षष्ठ अङ्गका नाम धारणा है। जिसमें षट्चक्र आदि क्रिया भी अन्तर्भुक्त है। धारणाके लक्षणके विषयमें योगशास्त्रमें कहा है—

> अन्तर्जगत् समासाद्य पञ्चतत्वेषु कुत्रचित्।
> सूक्ष्मप्रकृतिभावेषु यदा शक्नोति योगवित्॥
> आधातुमन्तःकरणं तदा सा धारणा भवेत्॥

योगी जब अन्तर्जगत्में पहुंच कर पञ्चसूक्ष्मतत्त्वोंमेंसे किसी सूक्ष्म प्रकृतिके भावमें अन्तःकरणको ठहरा सकता है, तब उसीका नाम धारणा है। पञ्चधारणामुद्राओंकी सहायतासे पञ्चतत्त्वों-पर अधिकार जमा कर गुरूपदेशलभ्य धारणक्रिया द्वारा योगवित् साधक अन्तरराज्यको वशीभूत कर सकते हैं। उससे विविध शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच भूत हैं। इस कारण धारणा भी पांच प्रकारकी हुआ करती है।

पैरोंसे लेकर जानुपर्य्यन्त पृथिवीका स्थान है, जानुसे लेकर गुदापर्य्यन्त जल तत्त्वका स्थान है, गुदासे लेकर हृदयपर्य्यन्त अग्नि-तत्त्वका स्थान है, हृदयसे लेकर भ्रूपर्यन्त वायु तत्वका स्थान है और भ्रूसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त आकाशतत्त्वका स्थान है। श्रेष्ठमुनिगण पञ्चधारणा नामक मुद्रा द्वारा इस प्रकार पञ्चतत्त्वधारणाका अभ्यास करते हैं।

अब धारणाक्रियाके अन्तर्गत षट्चक्रभेद प्रकरणका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्रमें वर्णित है—

> गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्द्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
> चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्।
> नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥

पायुसे दो अंगुलि ऊपर और उपस्थसे दो अंगुलि नीचे चतुरङ्गुलविस्तृत समस्त नाडियोंके मूलस्वरूप पक्षीके अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है, जिसमेंसे बहत्तर हजार नाडियाँ निकल कर सर्वशरीरमें व्याप्त हो गई हैं। उन नाडियोंमेंसे योगशास्त्रमें तीन नाडियां मुख्य कही गई हैं। यथा—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा॥

मेरुदण्डके बहिर्देशमें इडा तथा पिंगला नामिका दो योगनाडियाँ हैं, जो चन्द्र और सूर्य्यरूपिणी तथा मेरुदण्डके वाम तथा दक्षिण दिशामें विराजमान रहती हैं और मेरुदण्डके मध्यदेशमें सत्वरजस्तमोगुणमयो तथा चन्द्रसूर्याग्निरूपा सुषुम्ना नाडी स्थित है। मूलसे उत्थित इन तीन नाडियोंकी गति कहांसे कहां तक है, इसके विषयमें योगशास्त्रमें बताया गया है। यथाः—

इडा च पिंगला चैव तस्य वामे च दक्षिणे।
सर्वपद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते शुभे॥

मूलसे उत्थित होकर मेरुदण्डके वाम और दक्षिण दिशामें समस्त पद्मों अर्थात् चक्रोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रके अन्त पर्यन्त धनुषाकारसे इडा तथा पिङ्गला नाडी जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती है। भ्रूमध्यके ऊपर जहां पर इडा और पिङ्गला मिलती हैं वहां पर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है। इस लिये वह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि शास्त्रमें इन तीनों नाड़ियोंको गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती कहा गया है। यथा योगशास्त्रमें—

इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इडा भोगवती गङ्गा, पिङ्गला यमुना और इन दोनोंके मध्यमें

सुषुम्ना सरस्वती है। मेरुदण्डके मध्यस्थित सुषुम्ना अत्यन्तसूक्ष्म तथा स्थूलनेत्रके अगोचर होनेसे अन्तःसलिला सरस्वती रूप है। जिस प्रकार गङ्गा, यमुना तथा सरस्वतीके संगमस्थान त्रिवेणीमें स्नान करनेसे मुक्ति होती है, उसी प्रकार जो योगी योगबलसे अपनी आत्माको ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता त्रिवेणीमें स्नान करा सकते हैं, उनको मोक्ष मिलता है। यथा शास्त्रमें:—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

त्रिवेणीमें स्नान करनेसे महाफलकी प्राप्ति होती है। भ्रूमध्यके पास इडा तथा पिङ्गलाके साथ सुषुम्नासे मिलनेके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है:—

चापाकारे स्थिते चान्ये सुषुम्ना प्रणवाकृतिः।
पृष्ठास्थिघुण्टितो भिन्ना तिर्यग्भूता ललाटगा।
भ्रूमध्ये कुण्डलीलग्ना मुखेन ब्रह्मरन्ध्रगा॥

धनुषाकार इडा तथा पिङ्गलाके बीचमेंसे प्रणवाकृति सुषुम्ना मेरुदण्डके अन्त तक जाकर मेरुदण्डसे अलग हो वक्राकार धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें इडा और पिङ्गलाके साथ त्रिवेणीमें जा मिलती है और तदनन्तर वहांसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। इडा तथा पिङ्गलाकी तरह सुषुम्ना भी मूलाधार पद्मान्तर्वर्त्ती कन्दमूलसे निकल कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त गई है। इसका और भी प्रमाण है। यथा योगशास्त्रमें:—

मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा।

मेरुदण्डके मध्यस्थित सुषुम्ना कन्दमूलसे निर्गत होकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त जाती है। अब ब्रह्मज्ञानप्रदानकारिणी अतः ब्रह्मनाडी सुषुम्नाके विषयमें योगशास्त्रकी सम्मति कही जाती है। यथा—

विद्युन्मालाविलासा मुनिमनसि लसत्तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा।
शुद्धज्ञानप्रबोधा सकलसुखमयी शुद्धबोधस्वभावा॥

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधाधारगम्यप्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्नाख्यनाड्यालपन्ति॥

विद्युत्की मालाओंकी तरह जिसका प्रकाश है, मुनियोंके चित्तमें सूक्ष्मप्रदीप्त मृणालतन्तुरूपसे जो शोभायमान होती है, शुद्ध ज्ञानकी प्रबोधकारिणी, सकलसुखमयी तथा शुद्धज्ञानस्वभावा यह ब्रह्मनाडी सुषुम्ना है। इसी नाडीके मुखमें ब्रह्मद्वार अर्थात् कुलकुण्डलिनी-शक्तिके शिवसन्निधानमें जाने आनेके लिये पथ विद्यमान है और वह स्थान परमशिवशक्तिसामरस्यके द्वारा निर्गत अमृतधाराके प्राप्त करनेका भी स्थान है। यही ब्रह्मद्वार ग्रन्थिस्थान अर्थात् कन्द तथा सुषुम्नाका सन्धिस्थान होनेसे सुषुम्नानाडीका मुख है, ऐसा योगी लोग कहते हैं। इस मूलसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विस्तृत सुषुम्नानाडीकी छः ग्रन्थियां हैं, जो षट्चक्र कहलाती हैं। उनके नाम-मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा-चक्र हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्ड-लिनीको जागृत करके इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्नापथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है। इसीको षट्चक्रभेद कहते हैं।

लययोगके सप्तम अङ्गका नाम ध्यान है। इसका निम्नलिखित लक्षण और फल योगशास्त्रमें बताया गया है—

अवलोकनसाहाय्याद्ध्यानवृत्तिपुरस्सरम्।
साक्षात्कारो हि ध्येयस्य ध्यानमित्युच्यते बुधैः॥

अवलोकनकी सहायतासे ध्यानवृत्ति द्वारा ध्येयके साक्षात्कार-को ध्यान कहते हैं। विभिन्न योगमार्गमें विभिन्न ध्यानका वर्णन है। यथा मन्त्रयोगमें स्थूलध्यान, हठयोगमें ज्योतिर्ध्यान करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है। लययोगके लिये महर्षियोंने जिस ध्यानकी विधि वर्णित की है उसको सूक्ष्मध्यान अथवा बिन्दुध्यान कहते हैं।

शक्तिचालिनीमुद्रा और योनिमुद्रा दोनों ही विन्दुध्यानकी सिद्धिमें परमसहायक हैं। साधन द्वारा कुलकुण्डलिनीमहाशक्तिका जब उद्बोधन होने लगता है तो वे दर्शनपथमें आती हैं। परन्तु प्रकृतिके स्वाभाविक चाञ्चल्यके कारण अस्थिर रहती हैं। क्रमशः महाशक्तिका परमपुरुषके साथ संयोग होनेपर प्रकृतिका चाञ्चल्य दूर हो जाता है। ब्रह्म अथवा ब्रह्मशक्ति अतीन्द्रिय वा रूपविहीन होनेपर भी अधिदैवज्योतिके रूपमें साधकको लयोन्मुख करनेके अर्थ युगलरूपमें दर्शन देते हैं। अधिदैव ज्योतिःपूर्ण विन्दुमय उस ध्यानको विन्दुध्यान कहते हैं, मुद्रा आदिकी सहायतासे ध्यानका प्रारम्भ करके निश्चल निर्द्वन्द्व होकर ध्यानकी दृढ़ता की जाती है।

स्थूलध्यानसे शतगुण फल ज्योतिर्ध्यानमें है और ज्योतिर्ध्यानसे शतगुण फल विन्दुध्यानमें है। विन्दुध्यान सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेसे अतिकठिन और गोप्य है। श्रीगुरुकृपा और ब्रह्मशक्ति महामायाके प्रसादसे ही विन्दुध्यानकी प्राप्ति होती है। योगसाधनचतुष्टयके तत्त्ववेत्ता योगिराज सद्गुरु ही विन्दुध्यानके उपदेश द्वारा शिष्यको कृतकृत्य कर सकते हैं। प्रत्याहारकी दृढ़ता होते ही नादश्रवण होना प्रारम्भ हो जाता है। अवस्थाभेदसे उत्तरोत्तर नादकी उन्नति होती जाती है। नादकी सहायतासे धारणासिद्धि और ध्यानसिद्धि होती है। ज्योतिका विकाश धारणाभूमिमें होता है। धारणाकी क्रमोन्नतिके साथ ज्योतिकी क्रमोन्नति होती है। निहार, धूम्र, खद्योत, चन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि भेदसे ज्योतियोंका विकाश पञ्चतत्त्वभेदानुसार होता है। धारणाभूमिकी दृढ़तासे इनकी दृढ़ता होती है और अन्तमें धारणाकी सिद्धावस्थामें प्रकृतिपुरुषात्मक आत्मदर्शन विन्दुध्यानमें होता है। विन्दुध्यान ही सगुणरूपका रहस्य है। अनेक जन्मजन्मान्तरके साधन द्वारा योगीको बिन्दुध्यानकी सिद्धि होती है।

लययोगके अष्टम अङ्गका नाम लयक्रिया है, जिसके साथ लययोगसमाधिका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं। यथा—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद्ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम्॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
षट्चक्रं षोडशाधाराद्बिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत्।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्जनः॥

जो सूक्ष्मयोगक्रियायें ध्यानकी सिद्धि करा कर साधककी समाधि-सिद्धिमें सहायक होती हैं, अलौकिकभावपूर्ण अतिगोप्य और अति-दुर्लभ उक्त क्रियाओंको महर्षियोंने लयक्रिया करके वर्णन किया है। लयक्रिया ही लययोगका प्राणरूप है और समाधिसिद्धिका कारण है। षट्चक्र, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक और उनचास पीठ इनको जाननेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है। लयक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार हाता है।

लययोगके नवम अर्थात् अन्तिम अङ्गका नाम समाधि है। उसके लिये योगशास्त्रमें वर्णन है यथा—

सरित्पतौ पतित्वाम्बु यथा भिन्नमियाल्लयम्।
तथाभिन्नं मनस्तत्र समाधिं समवाप्नुयात्॥
सलिलं सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥

प्रशस्ता लययोगस्य समाधिर्हि महालयः।
नादस्य विन्दोः साहाय्यात्समाधिरधिगम्यते॥
नादस्य विन्दोश्चैकत्वे मनस्तत्र विलीयते।
दृश्यनाशात्तदाद्रष्ट्रूपमेति प्रकाशताम्॥

जिस प्रकार जलका विन्दु समुद्रमें मिलकर समुद्रसे अभिन्न हो जाता है, उसी प्रकार ध्येयरूप परमात्मामें संलग्न हुआ अन्तःकरण शेषमें उसी ध्येय अर्थात् परमेश्वरके अभिन्नरूपको धारण कर लेता है; इस अवस्थाको समाधि कहते हैं। जिस प्रकार जलमें निक्षिप्त हुआ लवण क्रमशः जलके सम्बन्धसे जलमें ही मिल जाता है, उसी प्रकार विषयसे स्वतन्त्र हुआ मन ध्येयवस्तु परमात्मामें युक्त होकर शेषमें परमात्माके स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है और यह आत्मस्वरूपप्राप्ति ही समाधि कहाती है। लययोगकी सर्वोत्तमसमाधिको महालय कहते हैं। नाद और विन्दुकी सहायतासे इस समाधिकी सिद्धि होती है। प्रथम नाद और बिन्दुका एकत्व हो कर उनके साथ मन भी लय हो जाता है। उसी समय दृश्यका नाश हो कर द्रष्टाका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसी सर्वोत्तमसाधनको समाधि कहते हैं।

यही लययोगका नवांगात्मक गूढ़रहस्यपूर्ण अपूर्वसाधन है, जिसको योगिराज श्रीमद्गुरुदेवकी कृपासे प्राप्तकर साधक कृतकृत्य हो सकते हैं।

राजयोग।

—:—

क्रियामूलक योगसाधनोंमेंसे अन्तिम साधन राजयोग है।

'राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः'

सब योगोंके राजा या सब योगोंमें श्रेष्ठतम होनेसे ही इसका नाम राजयोग है; ऐसा कहकर योगशास्त्रमें राजयोगकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने निजसंहितामें लिखा है:—

'अयन्तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'

समस्त धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म यही है, कि योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार किया जाय। राजयोगकी सिद्धदशामें जीवब्रह्मकी एकतासिद्धि हो कर सर्वत्र अद्वितीय परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है; इसीलिये राजयोग सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, वेदव्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, कश्यप, मार्कण्डेय, वामदेव आदि महर्षिगण इस योगके प्रवर्तक हैं। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण-मायासे अतीत परब्रह्मकी उपलब्धि ही इस योगका उद्देश्य है। इसलिये जिस प्रकार वेदान्तभूमिमें अधिकारलाभ करनेके अर्थ साधकको नित्यानित्यवस्तु-विवेक, शमदमादि षट् सम्पत्ति, इहामुत्रफलभोगविराग तथा मुमुक्षुत्त्व इन साधन चतुष्टयसे सम्पन्न होना पड़ता है; उसी प्रकार राजयोगसाधनके पहिले भी योगीको साधनचतुष्टय सम्पन्न होना पड़ता है। अन्यथा राजयोगमें कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

अब नीचे योगशास्त्रोंमें वर्णित राजयोगलक्षण और साधनक्रम बताये जाते हैं:—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥

अन्तःकरणभेदास्तु मनोबुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तश्चेतिविनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः॥
योगिनोराजयोगस्य भूमिमासादयन्तिते।
योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥

सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसको सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी कारण-दृश्यसे जगत्रूपी कार्य्यदृश्यका कार्य-कारणसम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहाता है। राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचारशक्तिकी पूर्णता द्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं। राजयोगकी समाधिको निर्विकल्पसमाधि कहते हैं। राजयोगसे सिद्धिप्राप्त महात्माका नाम जीवन्मुक्त है। महाभावप्राप्त योगी, महाबोधप्राप्त

योगी वा महालयप्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरमसीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।

यह बात पहले ही कही गई है कि, श्रीभगवान् पतञ्जलिके द्वारा वर्णित अष्टांगयोग ही सब योगसाधनोंका भित्तिरूप है। इस लिये राजयोगके साधनाङ्गोंके मूलमें भी योगदर्शनोक्त अष्टांगका सन्निवेश है। परन्तु राजयोगका साधन केवल अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्मरूपसे होनेसे और उसमें स्थूलशरीर तथा वायुसम्बन्धीय कोई भी क्रिया न रहनेसे मन्त्र-हठ-लययोगोक्त साधनोंकी तरह राजयोगमें कथित आसन, प्राणायाम आदिके साथ कोई भी स्थूलक्रियाका सम्बन्ध नहीं है। वे सब अन्तःकरणके द्वारा सूक्ष्म तथा विचित्ररूपसे ही साधित होते हैं जैसा कि नीचे बताया जाता हैः—

यमः—सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

समस्त जगत् ब्रह्म है–ऐसा जानकर इन्द्रिय–संयमको यम कहते हैं। इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

नियमः—सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥

स्वजातीय प्रवाह और विजातीय तिरस्कृति अर्थात् चेतनरूपी सद्भावको ग्रहण और जड़रूपी असद्भावका त्याग करने योग्य विचार-को नियम कहते हैं।

त्यागः—त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो मतः॥

चिदात्मभावके अवलोकनसे प्रपञ्चस्वरूपके त्यागको त्याग कहते हैं। महात्मा लोग इस साधनका बहुत ही आदर करते हैं। क्योंकि, इससे शीघ्र मोक्षप्राप्ति होती है।

मौनम्—यस्माद्वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः ॥
वाचो यस्मान्निवर्त्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम् ।
गिरामौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥

जिसको वाणी और मन नहीं प्राप्त कर सकते हैं और जिसका अनुमान केवल योगी लोग ही कर सकते हैं, ऐसे परमब्रह्मपदकी ही मौन संज्ञा है। उस भावको लाभ करनेके लिये पण्डितोंको सदा प्रयत्न करना चाहिये। जिसके वर्णनमें वाक्शक्ति थक जाती है—अर्थात् जिस पदका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता, यदि प्रपञ्चका ही वर्णन किया जाय, तो भी वर्णनमें शब्द समर्थ नहीं हो सकता। अतः साधुओंकी यह सहजावस्था ही मौन कहाती है। वाणी रोकनेको जो मौन कहा जाता है, वह ब्रह्मवादियोंके अर्थ बालकका खेल ही है।

देशः—आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥

जिस देशके न तो आदिमें, न मध्यमें और न अन्तमें जनताका सम्बन्ध पाया जाय, जो देश सदा परमात्मासे व्याप्त रहता हो, वही संसारसम्बन्धशून्य देश विजनदेश कहाता है।

कालः—कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टश्चाखण्डानन्द अद्वयः ॥

जिसके निमेषमात्रमें ब्रह्मादिसे लेकर सब भूतोंके सृष्टिस्थितिलय हुआ करते हैं, वही अखण्डानन्दरूप अद्वितीयभाव काल कहाता है।

आसनम्—सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥

सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥

जिस अवस्थामें सुखके साथ ब्रह्मचिन्तन होता हो उसे आसन कहते हैं। उस भावके अतिरिक्त जो इतर स्थूलभाव हैं उनमें सुख-नाश ही हुआ करता है। जो सब भूतोंके आदि, विश्वके अधिष्ठान और अव्यय है और जिस स्वरूपमें सिद्ध लोग स्थित हैं, उसे सिद्धासन कहते हैं।

देहसाम्यम्—अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नवसमानत्वमृजुत्वं शुष्कवृत्तवत्॥

समभावापन्न ब्रह्ममें लीन होनेको ही देहसाम्य कहते हैं। शुष्क-वृक्षकी नाईं ऋजुताको देहसाम्य नहीं कहा जाता है।

दृक्स्थितिः—दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी॥
दृष्टि दर्शन दृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्त्तव्या न नासाग्रावलोकिनी॥

दृष्टिको ज्ञानमयी करके समस्त प्रपंचमय जगत्को ब्रह्ममय देखनेको ही दृक्स्थिति कहते हैं; वही दृक्स्थिति परम मंगलकारी है; नासाके अग्रभागमें देखनेको दृकस्थिति नहीं कह सकते। जिस अवस्थामें अथवा जिस भावमें दृष्टि, दर्शन तथा दृश्यका एकीकरण द्वारा विराम हो जाय, उसी भावको यथार्थमें दृक्स्थिति कह सकते हैं; वैसी दृक्स्थितिका अभ्यास करना ही योग्य है। नासाग्र अवलो-कन करनेवाली दृक्स्थिति यथार्थ नहीं है।

मूलबन्धः—यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम्॥

जो सर्वभूतोंका मूल है और जो चित्तवृत्तिनिरोधका कारण है वही मूलबन्ध कहाता है। यह अवस्था सदा राजयोगके योगियोंको सेवन करने योग्य है।

प्राणसंयमनम्—चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वे सर्वभावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥
अतस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥

चित्त आदि सब प्रकारके सृष्टि सम्बन्धीय भावोंको ब्रह्मभावमें परिणत करके जब सब प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध कर लिया जाता है, तो उसी अवस्थाका नाम प्राणायाम है। भावना द्वारा सब प्रपंचोंका नाश कर देनेको रेचकप्राणायाम और मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार वृत्तिको पूरकप्राणायाम कहते हैं। तदनन्तर निश्चलरूपसे ब्रह्मभावमें स्थिर रहनेको कुम्भकप्राणायाम कहते हैं। यही ज्ञानियों-के लिये प्राणायामक्रियाएँ हैं; किन्तु अज्ञानिगण नासिका इन्द्रियको पीड़ा देकर प्राणायाम क्रिया किया करते हैं।

प्रत्याहारः—विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥

विषयोंके बीच आत्मतत्त्वको देखते हुए मनको चैतन्यस्वरूपमें लगानेसे प्रत्याहार कहाता है। मुमुक्षुगणोंको इस प्रत्याहार-क्रियाका अवश्य साधन करना उचित है।

धारणा—यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥

जहाँ जहाँ मन जाय वहाँ वहाँ ही ब्रह्मस्वरूप दर्शन करते हुए जो मनकी स्थिरताका साधन है, उसीको सर्वोत्तम धारणा कहते हैं।

आत्मध्यानम्—ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥

मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार सद्वृत्तिके द्वारा निरालम्बरूपसे

जो स्थिति है उसे ध्यान कहते हैं। इससे परमानन्दको प्राप्ति होती है।

समाधिः--निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः॥
ऊर्द्ध्वपूर्णमधः पूर्णं मध्यपूर्णं तदात्मकम्।
सर्वपूर्णं स आत्मेति समाधिस्थस्य लक्षणम्॥

निर्विकार चित्त हो कर अपने आपको ब्रह्मस्वरूप ज्ञान करके सम्पूर्णवृत्तिसहित सृष्टिभावसे रहित हो जानेको समाधि कहते हैं। जो ऊर्द्ध्वपूर्ण, अधःपूर्ण, मध्यपूर्ण और सर्वपूर्ण अर्थात् सकल स्थानमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं वही परमात्मा हैं। उन्हींको जान लेनेसे साधक समाधिप्राप्त हो जाता है और उनका वह पूर्णभाव ही समाधिका लक्षण है।

राजयोगके उन्नततम अधिकारको समझानेके लिये योगशास्त्रमें योगके अङ्ग तथा उपाङ्गोंके ये सब लक्षण वर्णन किये गये हैं। राजयोगके स्वरूपकी उपलब्धिके लिये योगाचार्योंका इस प्रकारसे प्रयत्न है। मन्त्रयोग, हठयोग तथा लययोग ये तीनों साधनावस्थाके योग हैं और राजयोग सिद्धावस्था है। इसी कारण ऊपर कथित राजयोगके योगाङ्गोंके लक्षणमें अन्य योगोंके योगाङ्गोंका कुछ खण्डन-सा प्रतीत होता है, वास्तवमें अन्य योगमार्गोंके क्रियासिद्धांशका यह खण्डन नहीं है; केवल राजयोगका अधिकार किस प्रकार आत्मज्ञान-मूलक है, उसको स्पष्टरूपसे बतानेके लिये यह दिग्दर्शन कराया गया है।

जीवकी व्यष्टिसत्ता परमात्माकी समष्टिसत्तामें राजयोगसाधन-की अन्तिम दशामें किस प्रकारसे विलीन की जाती है, वह योग-शास्त्रमें निम्नलिखित रूपसे बतलाया जाता है। यथा--

जले संलीयते पृथ्वी जलमग्नौ विलीयते।
अग्निर्वायौ लयं याति खे वायुश्च प्रलीयते॥

एवं स्थूलेषु भूतेषु लयं यातेषु वै मिथः।
मनो बुद्धावहंकारे बुद्धिश्चित्तेत्वहंकृतिः॥
क्षेत्रज्ञे विलयं याति चित्तं क्षेत्रज्ञ आत्मनि।
सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशते कृतम्॥
घटसंवृतमाकाशं लीयमानं यथा घटे।
घटे नष्टे महाकाशे तद्वज्जीवः परात्मनि॥

पृथिवी जलमें लयको प्राप्त होती है; अग्निमें जल लय हो जाता है; अग्नि वायुमें लय होती है और वायु आकाशमें लय-प्राप्त हो जाता है। इस तरहसे विलोमक्रमके अनुसार स्थूलभूतोंके लयके अनन्तर बुद्धिमें मन, अहङ्कारमें बुद्धि, चित्तमें अहङ्कार, क्षेत्रज्ञमें चित्त और परमात्मामें क्षेत्रज्ञ लयको प्राप्त हुआ करते हैं। इस अवस्थामें कोटिकल्पशतमें किये हुए पापसमूहसे भी साधक उत्तीर्ण हो सकता है। घट नष्ट होने पर तदन्तर्गत आकाश जिस प्रकार महाकाशमें लयको प्राप्त होता है, उसी रूपसे अविद्या-विनाशके अनन्तर जीव भी परमात्मामें लयप्राप्त हुआ करता है।

अब गुरूपदेशानुसार राजयोगके विविध अङ्गोंके साधन द्वारा उल्लिखित परमपदप्राप्ति कैसे होती है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। राजयोगके षोड़श अंग योगशास्त्रमें बताये गये हैं। सप्त ज्ञानभूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। वे सब विचार-प्रधान हैं। उनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अंग दो हैं। एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके तीन अंग हैं। विराट्ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अङ्ग हैं, दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोड़श अङ्गोंके साधन द्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मंत्रयोग, हठयोग और लययोग इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ

करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है ।

इन षोड़श अङ्गोंमेंसे सप्त ज्ञानभूमिके अनुसार प्रथम सप्ताङ्ग निम्नलिखित हैं—

निमित्तकारणीभूतं सृष्टेर्ब्रह्मेति बोधनम् ।
षोडशानां पदार्थानां तत्वाभिज्ञानतःस्फुटम् ॥
परमाणोश्च नित्यत्वं प्रथमं भूमिदर्शनम् ।
धर्म्माधर्म्मौ विनिर्णीय षट्पदार्थान्विचार्य्य वै ॥
परतत्वोपलब्धिश्च द्वितीयं भूमिदर्शनम् ।
वृत्तयो जगतोमूलं रुद्ध्वा ता यत्नपूर्वकम् ॥
परतत्वोपलब्धिर्हि तृतीया भूमिका मता ।
विदित्वा प्रकृतिं सम्यक् परतत्वावबोधनम् ॥
कथयन्ति बुधा एतत्तुरीयं भूमिदर्शनम् ।
प्राधान्यात् कर्मणो ब्रह्म जगदेवेति निश्चयः ॥
पञ्चमो भूमिका सेयं निर्दिष्टा तत्ववेदिभिः ।
भक्तेः प्रधानताहेतोर्ब्रह्मैव निखिलं जगत् ॥
येयं बुद्धिर्विनिर्दिष्टा सा षष्ठी भूमिका मता ।
ज्ञानाधिक्यादहंब्रह्मास्मीति धीः सप्तमी भवेत् ॥

परमाणुकी नित्यता, ब्रह्मको सृष्टिका निमित्तकारण देखना, षोड़श पदार्थके ज्ञान द्वारा परमतत्त्वकी प्राप्ति करना यह प्रथम भूमिकाका दर्शन है। धर्माधर्मनिर्णय और षट्पदार्थके ज्ञान द्वारा परमतत्त्वका ज्ञानलाभ करना यह दूसरी भूमिकाका दर्शन है। जगत्का मूल वृत्ति है। अतः चित्तवृत्तिके निरोध द्वारा परमतत्त्वका लाभ करना तृतीय भूमिकाका दर्शन है। प्रकृतिको सम्यक्प्रकारसे जानकर परमतत्त्व साक्षात्कार करना चतुर्थ भूमिकाका दर्शन है। कर्मकी प्रधानतासे जगत् ही ब्रह्म है, यह

दर्शन पञ्चम भूमिकाका है। भक्तिकी प्रधानतासे ब्रह्म ही जगत् है, यह दर्शन षष्ठ भूमिकाका है। और मैं ही ब्रह्म हूं, ज्ञानकी प्रधानतासे यह दर्शन सप्तम भूमिकाका है।

जिन सप्त ज्ञानभूमियोंके अनुसार राजयोगके प्रथम सप्ताङ्गोंका साधन होता है, उनके नाम निम्नलिखित रूपसे योग-शास्त्रमें वर्णित किये गये हैं। यथाः—

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता।
सन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत्॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा॥
यत्किञ्चिदासीत् ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्या या भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः॥
मायाविलसितञ्चैतत्दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीतिमतिः सप्तमोऽनुभवो मतः।
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते॥

प्रथम ज्ञानभूमिका नाम ज्ञानदा, दूसरीका नाम संन्यासदा, तीसरीका योगदा, चतुर्थीका नाम लीलोन्मुक्ति, पञ्चमका नाम सत्पदा, षष्ठका नाम आनन्दपदा और सप्तम ज्ञानभूमिका नाम परात्परा है। मुझे जो कुछ जानना था, सो सब कुछ जान लिया है, यह प्रथम भूमिका अनुभव है। मुझे जो कुछ त्यागना था सो

सब त्याग दिया है यह दूसरीका अनुभव है। मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी सो कर ली है, यह तीसरीका अनुभव है। मायाकी लीला मुझे सब कुछ दिखाई देती है, मैं उसमें मोहित नहीं होता यह चतुर्थका अनुभव है। जगत् ही ब्रह्म है, यह पञ्चमका अनुभव है। ब्रह्म ही जगत् है, यह षष्ठका अनुभव है। और मैं ही अद्वितीय निर्विकार विभु सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं, यह सप्तमका अनुभव है। इस भूमिको प्राप्त करके साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

योगशास्त्रमें राजयोगकी धारणा निम्नलिखितरूपसे बताई गई है। प्रथम पंचधारणामुद्राके अभ्यास द्वारा योगिराज, क्षिति, अप, तेज, मरुत, आकाश इन पांचों तत्वोंकी धारणामें सिद्धिलाभ करता है और साथ ही साथ पंच सूक्ष्मक्रियाके साधन द्वारा इन पांचतत्त्वोंको जय करनेमें समर्थ होता है। राजयोगकी धारणाकी सिद्धिमें पंचधारणामुद्रा और पञ्चसूक्ष्मलयक्रिया परमसहायक है। तत्पश्चात् योगिराज उन्नतभूमिमें पहुँचकर त्रिविध ब्रह्मध्यानके साधनमें समर्थ होता है। अपरिपक्वदशामें धारणाभ्यासकी सहायतासे ही ब्रह्मईश्वरविराट्रूपी त्रिविध धारणासे साधक अग्रसर होता है। धारणाके वास्तवमें दो अंग हैं। एक प्रकृतिधारणा और दूसरा ब्रह्मधारणा। ये दोनों धारणाके अंग जीवन्मुक्त गुरुके द्वारा साधकको प्राप्त हो सकते हैं।

धारणाके अनन्तर ध्यानका अभ्यास होता है, जिसके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं। यथा—

राजयोगी ध्यानाभ्यास करते समय वेद, शास्त्र और गुरुकी सहायतासे ब्रह्म, ईश और बिराट् रूपी त्रिबिध ध्यान करनेमें समर्थ होता है। राजयोग ध्यानकी यह विलक्षणता है कि मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगके साधकको केवल एक प्रकारका ही ध्यान

करना होता है और उनको ध्यानान्तरसे हानि होती है, परन्तु राजयोगीके लिये त्रिविध ध्यान हितकर है। मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं, मैं ही दृश्यका द्रष्टा हूं, मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हूँ इत्यादि भाव राजयोगध्यानमें होते हैं। जीवन्मुक्त गुरुदेवकी सहायतासे शास्त्रोंका रहस्य और राजयोग साधनोंका रहस्य साधकको प्राप्त होता है। इस ध्यानकी सिद्धिसे निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है। राजयोगमें सिद्धिलाभ करनेके अर्थ अनेक साधनक्रियाएँ योगतत्त्ववेत्ताओंने वर्णन की हैं।

अब राजयोगोक्त समाधिका वर्णन किया जाता है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता॥
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
लीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहिले वितर्क रहता है। तदनन्तर अग्रसर होने पर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। प्रथम दो भेद सविचार और द्वितीय दो भेद निर्विचार समाधिके हैं। मैं ब्रह्म हूँ यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब

शेष न रहे वही तुरीयावस्था है । समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रसे ज्ञात नहीं हो सकता है जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है ऐसे जीवन्मुक्त ही उसका भेद बता सक्ते हैं ।

योगशास्त्रमें लिखा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

और संहितामें लिखा है—

परजीवात्मनोरेव मेलनं योग उच्यते ।

इन शास्त्रीय बचनोंका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें जीवात्मा परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं । इन बचनोंसे यही सिद्धान्त निश्चय होता है कि चित्तवृत्तियोंका जब तक निरोध नहीं होता है तब तक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है । परन्तु चित्तवृत्तिका जितना जितना निरोध होता जाता है उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका विकाश होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकाश हो जाता है । मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभावसमाधिमें, हठयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाबोधसमाधिमें और लययोगकी सिद्धावस्थरूपी महालयसमाधिमें साधकको जो सफलताएँ प्राप्त होती हैं, उन सफलताओंसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है । इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्थ द्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है । इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है । मन्त्र और इष्टदेवके

रूपके एकीकरण द्वारा मन्त्रयोगके महाभाव समाधिका उदय होता है।

वायुनिरोध द्वारा हठयोगके महाबोध नामक समाधिका उदय होता है और नाद तथा विन्दुके एकीकरणसे लययोगके महालय नामक समाधिका उदय होता है। ये तीन समाधियां लौकिक उपायसम्भूत होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्ध रहित होनेसे यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्ति निरोध करनेमें समर्थ होती हैं, परन्तु चित्तवृत्तिके मूलोच्छेद करनेमें समर्थ नहीं होती हैं, सुतरां इन तीनों समाधिदशामें वृत्तिओंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमें पहुंच जाता है तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तु-तस्तु मन्त्रयोग, हठयोग तथा लययोग जहां समाप्त होते हैं, राजयोग का श्रेष्ठ अधिकार वहांसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्तदर्शनोक्त सप्तज्ञान-भूमिओंको एकके बाद दूसरा इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपान द्वारा छत पर चढ़ जाता है उसी प्रकार सप्तज्ञान भूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृतिपुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्ण रूपसे परिज्ञात कर ब्रह्म, ईश और विराट् रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें

पहुंच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे दशम एकादश और द्वादश अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह परमभाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशाएँ पूर्वकथित मन्त्रहठलयलोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधि से विभिन्न हैं) समाधि दशाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है। राजयोगमें सिद्धिलाभ करके इस परम दशाको प्राप्त होनेपर जीवके जनन मरणचक्र एकबार ही शान्त हो जाता है। वह प्रारब्धक्षयपर्यन्त जीवनमुक्ति अवस्थामें रहकर पश्चात् विदेहमुक्तिदशामें परब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

अवतारोपासना।

उपासनाके पूर्वकथित नौ अङ्गोंमेंसे अवतारोपासना भी एक प्रधान अङ्ग है। इसलिये इस प्रबन्धमें अवतारतत्त्व तथा अवतारोपासनाका कुछ दिग्दर्शन कराया जायगा।

सर्वव्यापक, निराकार परमात्माका किसी स्थूल लौकिक रूप धारण करके संसारमें प्रकट होना एक अपूर्व वस्तु है; इस लिये अवतारके विषयमें अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा अनेक प्रकारकी शङ्काएँ हुआ करती हैं। इच्छारहित भगवान्के अन्तःकरणमें संसारमें प्रकट होकर संसारीकी तरह लीला करनेकी इच्छा कैसे हो सकती है? मायानिर्मुक्त निराकार परमात्मा मायामय स्थूल शरीर कैसे ग्रहण कर सकते हैं? देशकालवस्तुके द्वारा सीमारहित जो परमात्मा पहले ही सर्वत्र विद्यमान हैं, वे कहींसे कहीं आ कैसे सकते हैं? क्योंकि यदि वे कहीं पर होते और कहीं न होते तो, जहां पर हैं वहांसे जहां पर नहीं थे, वहां आ सकते थे; परन्तु जब परमात्मा पहलेसे सर्वत्र विराजमान हैं तो, किसी स्थानसे स्थानान्तरमें जाना आना उनके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? और यदि किसी कारणसे उनका आना सम्भव ही मान लिया जाय तो भी यह सन्देह नहीं निवृत्त होता है कि उनको इस प्रकारसे स्थूल शरीरके चक्रमें आनेका प्रयोजन क्या हो सकता है? क्योंकि, जब वे सर्वशक्तिमान् हैं तो, बिना स्थूल शरीर धारण किये ही इच्छामात्रसे दुष्टदमन तथा संसारकी रक्षा कर सकते हैं। इस प्रकारसे अलौकिक भावमय अवतारतत्त्वके विषयमें अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा शङ्काएँ होती हैं। इसलिये वर्त्तमान प्रबन्धमें अवतारका तत्त्व-निरूपण करते हुए उल्लिखित सन्देहोंका निराकरण किया जायगा।

अवतारके विषयमें वेदमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—ऋग्वेद, मं० ६, अ० ४, सू० ४७, म० १८ में—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥"

भक्तोंके प्रार्थनानुसार प्रख्यात होनेके लिये श्रीभगवान् मायाके संयोगसे जीव, अवतार आदि अनेक रूप धारण करते हैं, उनके शत शत रूप हैं; उनमेंसे दस अवताररूपमें दस रूप मुख्य हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

अजन्मा, अव्यय और भूतोंके ईश्वर होनेपर भी मायाके आश्रय से परमात्मा संसारमें अवतार रूपसे उत्पन्न होते हैं। धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी वृद्धि जिस जिस कालमें होने लगती है, उसी समय भगवान् अवतार धारण करते हैं। साधुओंकी रक्षा, पापियों का नाश और युगानुसार धर्मव्यवस्थाके लिये युग-युगमें परमात्माका अवतार होता है। इस प्रकारसे अवतारके विषयमें आर्यशास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। अब नीचे अवतारका विज्ञान बताकर ऊपर उक्त प्रमाणोंकी सत्यता बताई जाती है।

परमात्माकी सत्ताके विभु होनेसे वे सर्वत्र व्याप्त हैं; इस लिये कहींसे कहीं जाना-आना उनके लिये अवश्यही असम्भव तथा विज्ञानविरुद्ध है; परन्तु इससे अवतार होना असम्भव है—यह बात ठीक नहीं है। 'अवतार' कहींसे कहीं आ जाने या उतर आने

का नाम नहीं है। परन्तु सर्वव्यापक परमात्माकी किसी विशेष केन्द्र द्वारा शक्ति प्रकट होनेका नाम अवतार है। इसमें अवतार शब्द द्वारा जो अवतरण अर्थात् नीचे उतर आनेका भाव प्रकट होता है, उसका तात्पर्य भावमूलक है। उनकी विशेष शक्तिका मायाके द्वारा सम्बन्धित होना और ऐसा होकर प्रकट होना ही भावराज्यमें अवतरण कहा जा सकता है। इसी लिये शक्तिके प्राकट्यको 'अवतार' शब्दसे कहा गया है। अब इस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश कैसे होता है, सो विचार करने योग्य है। परमात्माके सर्वव्यापक होनेसे उनकी शक्ति भी सर्वव्यापिनी है। उनके ऊपर स्थित जड़चेतनात्मक दृश्य संसारके द्वारा उनकी वह शक्ति विकाशको प्राप्त होती है। इस लिये जड़चेतनात्मक समस्त संसारमें जो कुछ शक्ति देखी जाती है सो उन्हींकी शक्ति है। और अधिक कहना ही क्या जब शक्तिके आधारभूत महाशक्ति जगदम्बा ही उनकी शक्तिस्वरू-पिणी हैं तब संसारमें विकाशशील समस्त शक्तियाँ उन्हींकी होंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता है। उनकी यह शक्ति अग्निमें, जलमें, ओषधियोंमें, वनस्पतियोंमें तथा समस्त संसारमें व्याप्त होरही है। इस शक्तिका प्रकाश कैसे होता है, इस विषयमें पञ्चदशीकारने लिखा है:—

सर्वशक्तिमयं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्।
यथोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति॥

अद्वितीय ब्रह्ममें शक्ति पूर्ण है। इस शक्तिका दृश्यके आश्रयसे जब उल्लास होता है, तभी दृश्य जगत्में इसका प्रकाश होता है। विकाश प्राप्त यह शक्ति शास्त्रमें 'कला' नामसे कही जाती है और 'सोलह' शब्द पूर्णताका प्रकाशक होनेसे जहां पर पूर्णशक्तिका उल्लास या विकाश हो वहां सोलह कला शक्तियाँ प्रकट हुई—ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार पूर्णचन्द्र षोडशकलापूर्ण कहे जाते हैं

उसी प्रकार पूर्णशक्ति भी षोडशकला की शक्ति कही जाती है। इस लिये परमात्मामें पूर्णशक्तिके विद्यमान रहनेसे परमात्मा षोडश-कलासे पूर्ण कहे जाते हैं। यथा छान्दोग्योपनिषद्‌में:—

"षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः"

परमात्मा षोडशकलाशक्तिसे युक्त है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी—

"षोडशकलो वै पुरुषः"

परमात्माकी षोडशकलाएँ हैं। परमात्माकी यह षोडशकलाशक्ति जड़चेतनात्मक समस्त जगत्‌में व्याप्त है और जितना जितना जीव अपनी योनिमें उन्नत होता जाता है, उतना उतना ही परमात्मा की यह कला जीवके आश्रयसे विकाशको प्राप्त होने लगती है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि कलाविकाशकी छुटाई बड़ाई ही जीवयोनिकी उन्नति या अवनतिकी सूचक है। एक योनिका जीव अन्ययोनिके जीवसे उन्नत इसलिये है कि उसमें अन्ययोनिके जीवोंसे भगवद्‌कलाका विकाश अधिक है। चेतनसृष्टिमें उद्भिज्जसृष्टि ही प्रथम है। इसलिये षोडशकालाओंमेंसे एक कलाका विकाश अन्नमय-कोषयुक्त उद्भिज्जमें ही होगा—यह शिद्धान्त निश्चय है। श्रुतिने भी इसी सिद्धान्तको प्रमाणित किया है। यथा छान्दोग्योपनिषद्‌में—

"षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत् सोऽन्नेनोपस-
माहिता प्राज्वालीत्।"

षोडश कलाओंमेंसे एक कला अन्नमें मिलकर अन्नमयकोष द्वारा प्रकट हुई। इसी क्रमके अनुसार परवर्त्ती जीवयोनि स्वेदजमें दो कला, अण्डजमें तीन कला और जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें चार कलाका विकाश होता है। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें आकर साधारण मनुष्यसे विभूतियुक्त मनुष्य पर्यन्त पांच कलाओंसे आठ कला तक भगवत्‌शक्तिका विकाश होता है। इस प्रकारसे एक कलासे लेकर आठ कलातक शक्तिका विकाश लौकिकरूपसे होगा

अर्थात् पूर्णकलाके आधे तक लौकिक कोटि है। तदनन्तर नौ कलासे लेकर षोडशकला तक शक्तिका विकाश जिन केन्द्रों द्वारा होगा वह आधेसे अधिक होनेसे, अलौकिक कोटिके अन्तर्गत है। इसलिये ६ कलासे १६ कलातक जीवकोटि न हो कर अवतारकोटि कहलाती है; अर्थात् जिन केन्द्रोंके द्वारा भगवान्की शक्ति नौ कलासे लेकर षोडशकला तक विकाशको प्राप्त होगी वे सब केन्द्र जीव न कहलाकर अवतार कहलावेंगे। चाहे वे सब केन्द्र ऊपरके मनुष्य अथवा मनुष्ययोनिके नीचेके जीवोंकी शरीरकी तरह क्यों न दिखें, तथापि, अलौकिकशक्तिका आधार होनेसे, वे सब असाधारण केन्द्र हैं; साधारण मनुष्य अथवा उससे नीचेके जीवोंके केन्द्र नहीं हैं; क्योंकि, साधारण तथा विभूतिपर्यन्त जीवशरीरमें इस प्रकारकी अलौकिक शक्ति धारण करनेकी योग्यता या उपादान (सामान) नहीं है। अतः ये सब अवतारके ही केन्द्र हैं—ऐसा आर्यशास्त्रमें सिद्धान्त निश्चय किया गया है। नौ कलासे लेकर पन्द्रह कलातक अंशावतार और षोडशकलासे पूर्ण केन्द्र ही पूर्णावतारका केन्द्र है—ऐसा समझना चाहिये। अब कलाविकाशके तारतम्यानुसार चेतनजीवोंमें क्या क्या विशेषता देखनेमें आती है, सो नीचे कुछ बताया जाता है।

पञ्चकोषोंमेंसे अन्नमय कोषका उद्भिज्जयोनिमें अपूर्वरूपसे प्रकट होना एक कलाविकाशका ही फलरूप है। ओषधि, वनस्पति, वृक्ष तथा लताओंमें जो संसारके जीवोंकी प्राणधारण करनेवाली तथा पुष्टि देनेवाली शक्ति है, सो भगवत्शक्तिकी एक कलाके विकाशका ही फलरूप है। स्वेदज, अण्डज, जरायुज, पशु, मनुष्य तथा देवता पर्यन्तकी तृप्ति अन्नमयकोष-द्वारा उद्भिज्जगण ही किया करते हैं। संसारकी मनोहारिता ब्रह्माण्डप्रकृतिमें स्थितिदशाकी अपूर्व शोभा, विष्णु भगवान्का अनेक वैचित्र्यभरा रूपविलास—ये सभी

उद्भिज्जजगत्‌में ईश्वरीय एक कलाके विकाशका मधुर फलरूप है। केवल एक कलाका विकाश होते ही उद्भिज्जोंमें जीवभावका विकाश तथा सकल इन्द्रियोंकी क्रिया तक देखनेमें आती है—जो आज कल वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा भी प्रमाणित हो चुकी है।

तदनन्तर स्वेदज योनिमें दो कलाका विकाश होता है। जिससे अन्नमय और प्राणमय दोनों कोषोंका विकाश स्वेदजोंमें देखनेमें आता है। उद्भिज्जोंमें प्राणमय कोषका विकाश न रहनेसे उद्भिज्ज चल फिर नहीं सकते; परन्तु स्वेदजोंमें इस कोषका विकाश होनेसे स्वेदजयोनिके जीव अच्छी तरहसे चल फिर सकते हैं। उनमें प्राणशक्तिका कहीं कहीं अपूर्व विकाश भी देखनेमें आता है। दीमक आदि कीटोंमें जो अद्भुत गृहनिर्माणकी शक्ति देखनेमें आती है, विसूचिका (हैजा), ग्रन्थिज्वर (प्लेग) आदि रोगोंमें जो स्वेदज कीटोंकी प्राणशक्ति-द्वारा बड़े-बड़े शक्तिमान् मनुष्योंके प्राण तक क्षणकालमें ही कालके ग्रासमें पतित होते हुए देखनेमें आते हैं, जीव शरीरके भीतर उत्पन्न स्फोटकादि (फोड़े)के कीटोंमें जो शरीर, मन, प्राणको अनन्त दुःख समुद्रमें डाल देनेकी शक्ति देखी जाती है, रक्तके भीतरके कीटोंमें जो रोग उत्पन्न करने वाले कीटोंके साथ भीषण युद्ध करके शरीररूपी दुर्गकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है और वीर्यके कीटोंमें जो जीवशरीर उत्पन्न करने तथा जीवात्माको आकृष्ट करके गर्भाशयमें ले आने तककी अपूर्व शक्ति है—वह सब स्वेदजयोनिमें भगवत्-शक्तिकी दो कलाओंके विकाश-का ही अपूर्व फलरूप जानना चाहिये।

तदनन्तर अण्डजयोनिमें तीन कलाकी भगवत्-शक्तिका विकाश होता है जिससे अन्नमय, प्राणमय कोषोंके साथ मनोमय कोषका भी विकाश अण्डजयोनिमें हो जाता है। मनोमय कोषका विकाश होनेसे अण्डजयोनिमें मानसिकप्रेम आदि बहुतसी वृत्तियां देखनेमें

आती हैं। कपोत, (कबूतर) कपोती, शुक, सारिका, चक्रवाक (चकवा) चक्रवाकीका प्रेम मनुष्योंमें भी दुर्लभ है। पक्षियोंमें मनोमय कोषका विकाश होनेसे ही वात्सल्यभावका अपूर्व विकाश देखनेमें आता है। पक्षिजाति बहुत ही प्रेमके साथ अपनी सन्तानोंका प्रतिपालन करती है और स्वयं विपद्ग्रस्त हो कर भी अपनी सन्तानोंको विपत्तिसे बचाती है। यह पक्षियोंमें भगवत्-शक्तिके विकाशका ही लक्षण है कि,—

"वैनतेयश्च पक्षिणाम्"

कहकर श्रीभगवान्ने अण्डजयोनिमें अपनी विभूति बताई है।

तदनन्तर जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें भगवत्-शक्तिकी चार कलाओंका विकाश होता है। चार कलाओंका विकाश होनेसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषोंके साथ विज्ञानमय कोषका भी विकाश पशु-योनिमें देखनेमें आता है। निकृष्ट पशु, उत्कृष्ट पशु, दोनों प्रकारके जीव ही निज निज अधिकारके अनुसार बुद्धिकी चालना कर सकते हैं। उत्कृष्ट पशुओंमें तो कहीं कहीं इतना बुद्धिका विकाश देखनेमें आता है कि, वे बहुतसे कर्म मनुष्यकी तरह करने लगते हैं। मनोमय कोषका विशेष विकाश होनेसे प्रेम करना, प्रेम समझना, स्नेह बताना तथा समझना आदि कार्य पशुओंमें विशेष देखनेमें आते हैं। इतिहासमें अनेक दृष्टान्त पाये गये हैं कि, प्रभुभक्त अश्व, श्वान, हस्ती आदिने कितनी बार घोर विपत्तिसे प्रभुकी रक्षा की है, प्रभुके लिये अपना प्राण आनन्दके साथ समर्पण कर दिया है, मृत प्रभुके पास अनाहारव्रत धारण करके दिनरात खड़ा रहकर अन्तमें प्राणत्याग कर दिया है। यह सब बातें पशुयोनिमें भगवान्की चार कलाओंके मधुर-विकाशके ही फलरूप हैं।

तदनन्तर मनुष्यकोटिमें जीवकी उन्नतिके तारतम्यानुसार इस

ईश्वरीय कलाका विकाश ५ से ८ तक हो सकता है। पांच कलाओंसे मनुष्यकी साधारण शक्तिका विकाश हो जाता है और छः कलाओंसे विशेष शक्तिका विकाश होने लगता है, जिसको शास्त्रमें विभूति कहा गया है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

"यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥"

संसारमें जो कुछ ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त पदार्थ है सो सभी भगवान्की शक्तिके विकाश द्वारा उत्पन्न हुए हैं—यह जानना चाहिये। श्रीभगवान्की विशेष शक्तिको प्राप्त विभूतियोंके द्वारा संसारमें धर्मसम्बन्धीय अनेक कार्य हुआ करते हैं और ऐसा भी कहा जा सकता है कि, जबतक प्रकृतिराज्यमें अवतारके आनेकी आवश्यकता नहीं होती है तबतक इस प्रकारकी विभूतियोंके द्वारा ही सामयिकरूपसे धर्मकी रक्षा हुआ करती है। अनेक साम्प्रदायिक आचार्य तथा देशनेता शक्तिसम्पन्न पुरुषोंकी गणना इस विभूति-कोटिमें कर सकते हैं। किन्तु यह बात अवश्य स्मरण रखने योग्य है कि, विभूतियोंमें आंशिक अर्थात् अपूर्ण शक्ति होनेके कारण उनके द्वारा धर्मजगत्में जो कुछ कार्य होते हैं वे भी उन सब आंशिक देशकालोंके अनुकूल ही होते हैं।

षोडश कलाओंसे पूर्ण सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की आठ कला पर्यन्त शक्ति लौकिक मनुष्यादि केन्द्रों द्वारा प्रकट होती रहती है; परन्तु अष्टकलासे अतिरिक्त शक्ति-धारण करना किसी लौकिक केन्द्र द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिये नौ कलाओंसे लेकर सोलह कलाओं तक भगवत्-शक्तिका विकाश मनुष्य-पश्वादि जिन अलौकिक केन्द्रोंके आधारसे होता है, उन केन्द्रोंका नाम अवतार है। श्रीमद्भागवत्में लिखा है:—

"भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥"

लोकपालक भगवान् देव, तिर्यक्, मनुष्यादि शरीरके आश्रयसे लीलावतार धारण करके सत्त्वगुणके द्वारा ही संसारकी रक्षा करते हैं । इस प्रकारके अवतार कितने होते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीमद्भागवत्के प्रथम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें कहा है:—

"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

जिस प्रकार अगाधजलसे युक्त सरोवरसे सहस्र सहस्र जलकी नालियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वगुणाश्रय भगवान्‌से भी अनन्त अवतारोंकी उत्पत्ति होती है । ऋषिगण, मनुगण, देवगण, महातेजा मनुपुत्रगण, प्रजापतिगण—इन सभोंमें भगवत्-कलाका विभूति-रूपसे विशेष विकाश है । अन्यान्य अवतारोंमें भगवान्‌की आंशिक शक्तिका विकाश है; परन्तु श्रीकृष्णमें पूर्ण भगवत्-शक्तिका विकाश होनेसे श्रीकृष्ण स्वयं भगवद्-रूप हैं । दैत्यपीडित संसारकी रक्षाके लिये ही युग युगमें अंशावतारों तथा पूर्णावतारोंकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकारसे अनन्त अवतारोंकी उत्पत्ति-कथा बताकर पश्चात् शास्त्रमें इन अवतारोंमेंसे २४ और २४ मेंसे भी दश अवतारोंकी मुख्यता बताई गई है । यथाः—

"मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा ।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किर्दश स्मृताः ॥"

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्णबलराम,

बुद्ध और कल्कि—ये दस अवतार हैं। साधारणरूपसे शास्त्रमें प्रायः दस अवतारों अथवा चौबीस अवतारोंका वर्णन पाया जाता है। और यह भी पहले शास्त्रीय वचन द्वारा सिद्ध हो चुका है कि, भगवान्‌के अवतारोंकी संख्याएँ अनेक हैं। इस कारण यहांपर यह वर्णन करना आवश्यक है कि सगुण-पञ्चोपासनाके अनुसार भगवदवतारके भेद शास्त्रमें अनेक कहे गये हैं। शैवपुराणोंमें अनेक शिवावतारोंका वर्णन पाया जाता है। गणेशपुराणमें और गाणपत्य-तन्त्रोंमें अनेक गणपति-अवतारोंका वर्णन मिलता है। शक्ति-पुराण और शक्तिप्रधानतन्त्रोंमें शक्तिके अनेक अवतारोंका वर्णन देखनेमें आता है और उसी प्रकार पूर्वकथित वैष्णव-पुराणके वर्णनानुसार सूर्योपासनासम्बन्धीय ग्रन्थोंमें सूर्य्यदेवके अवतारोंका भी वर्णन मिलता है। फलतः पञ्चोपासनाके सिद्धान्तानुसार विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य्य और देवी—इन सबके अवतार होनेका प्रमाण शास्त्रमें पाया जाता है। जगत्-कारण जगदीश्वर भगवान्‌के एक ही होने-पर भी और उनके अवतारतत्त्वका रहस्य एक ही होनेपर भी, पञ्चगुणोपासकोंकी उपासनाओंके महत्त्वसे पञ्चोपासनाके स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावको लेकर इस जगत्‌की रक्षाके लिये स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावसे पूर्ण स्वतन्त्र स्वतन्त्र कलामें श्रीभगवान्‌के ऐसे अवतार समय समयपर प्रकट हुए हैं और होते रहते हैं। अस्तु, चाहे महाविष्णु-भावको लेकर अवतार हो, चाहे महाशक्तिभावको लेकर अवतार हो, चाहे महागणपतिभावको लेकर अवतार हो, चाहे महादेवभावको लेकर अवतार हो और चाहे महासूर्य्यभावको लेकर अवतार प्रकट हो सभी सर्वशक्तिमान् अद्वितीय सगुणब्रह्मके अवतार कहावेंगे और सभी ब्रह्मा विष्णु, महेशमेंसे विष्णुशक्तिके द्वारा जगत् रक्षणार्थ अवतीर्ण होंगे। अब नीचे क्रमशः इन अवतारोंकी लीलाओंका वर्णन किया जाता है।

अवतारके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है कि:—

"समष्टिकर्माधीनं तत् ।"

अवतार किसी एक जीवके कल्याणके लिये नहीं होता है; परन्तु समष्टिजीवोंके कल्याणके लिये होता है। इस प्रकार समष्टिजीवोंका कल्याण श्रीभगवान्‌की अवताररूपमें प्रकट शक्ति द्वारा पाँच प्रकार-से होता है। इसलिये अवतार पांच प्रकारके होते हैं। यथा दैवी-मीमांसादर्शनमें:—

"कलाभेदेन पूर्णांशत्वम्"

"निमित्ताद् विशेषाविशेषौ"

"अन्तराविर्भावस्य नित्यत्वम्"

कालभेदसे पूर्णावतार और अंशावतार होते हैं। नौ कलाओंसे पन्द्रह कलाओं तक अंशावतार कहलाते हैं और सोलह कलाओंके अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं। निमित्तभेदसे विशेष अवतार और अविशेष अवतार होते हैं। अन्तःकरणमें प्रकट श्रीभगवान्‌का नित्या-वतार होता है। इस प्रकारसे पूर्णावतार, अंशावार, विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार—ये पांच प्रकारके अवतार हुए। अब इनके प्रकट होनेका कारण कहा जाता है। प्रत्येक युगमें धर्मका विकाश उस युगमें उत्पन्न जीवोंके समष्टिकर्मानुसार रहा करता है। यही प्रकृतिराज्यमें धर्माधर्मका सामञ्जस्य है। जबतक इस साम-ञ्जस्यके नियममें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती है तबतक संसारमें अवताररूपमें अलौकिक शक्तिके प्रकट होनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है और यदि यथा तथा कहीं पर कुछ असामञ्जस्यका आभास कभी देखनेमें भी आता है तो, आठ कलाओं तक भगद्विभूति द्वारा ही उस विषमभावके नष्ट होनेपर पुनः समष्टि प्रकृतिका सामञ्जस्य हो जाता है और युगानुसार धर्मका विकाश भी अक्षुण्ण रहता है। परन्तु यदि

किसी कारणवश ऐसा हो जाय कि युगानुसार धर्मका विकाश न होने पावे—जैसे कि कोई असुर या राक्षस उत्पन्न हो कर कठिन तपस्या आदि द्वारा शक्ति लाभ करे और उसी शक्ति द्वारा जीवके समष्टि कर्मपर प्रभाव डाल कर युगानुसार अवश्य होनेवाली धर्मकी धाराको रोक देवे या दुर्बल कर देवे और वह रोकना इस प्रकारका बलवान् हो कि आठ कलाओं तककी विभूति द्वारा धर्मका प्रवाह ठीक न हो सके तो, उस समय समष्टिप्रकृतिके नियमानुसार या भगवान्के जगत्रक्षाकारी नियमके अनुसार यह आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें उत्पन्न होती है कि, अष्टकलाओंसे अधिक भगवत्शक्ति किसी अलौकिक केन्द्रके द्वारा प्रकट हो कर युगानुसार धर्मकी धारा—जो कि आसुरी या राक्षसी, विरुद्धशक्तिके द्वारा रोकी गई थी—उसको युगानुसार पुनः प्रवाहित कर देवें। यही प्राकृतिक नियमानुसार धर्मकी धाराको युगानुसार ठीक करनेके लिये अंश या पूर्णरूपमें अवतारके प्रकट होनेका कारण है। इस प्रकारके कारणके विषयमें शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा राक्षस-रावणके बधके लिये रामावतारके विषयमें रामायणके बालकाण्डके १५ वें और १६ वें सर्गमें वर्णन है:—

"स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दमः।
येन तुष्टोऽभवद्ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः॥
संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात्॥
अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः।
एवं पितामहात्तस्माद् वरदानेन गर्वितः॥
उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति।
तस्मात्तस्य बधो दृष्टो मानुषेभ्यः परन्तप!॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति॥
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुराँस्तथा।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः॥
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते॥
तन्महन्नो भयं तस्माद्राक्षसाद् घोरदर्शनात्।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्त्तुमर्हसि॥

राक्षसराज रावणने दीर्घकाल तक कठिन तपस्या की थी, जिससे सन्तुष्ट हो कर आदिपुरुष ब्रह्माजीने उसको यह वरदान दिया कि, 'मनुष्योंके सिवाय अन्य प्राणियोंसे उसको कोई भय नहीं होगा।' इस प्रकार वरदानसे गर्वित हो कर रावण समस्त संसार तथा स्त्रियोंपर बहुत ही अत्याचार करता है, जिससे संसारमें धर्म-की धारा नष्ट होने लगी है। अतः मनुष्योंके द्वारा ही उसका बध होना निश्चित है। रावण समस्त लोक, स्त्रीगण, सम्पत्तिशाली पुरुषगण तथा इन्द्र पर्यन्तको पीडित करता है। ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, ब्राह्मण, असुर आदि सभीको वरदानसे मुग्ध रावणने दबा लिया है। उसको देख कर डरसे सूर्य भी अधिक ताप नहीं देता है, वायु भी अधिक हिल नहीं सकता है और तरङ्गयुक्त समुद्र भी कम्पित नहीं होता है। इस राक्षससे सुर, नर—सभीको विशेष भय हुआ है। इस लिये श्रीभगवान्से प्रार्थना है कि, इसका शीघ्र बधोपाय विधान करें। यही सब अवतार प्रकट होनेके कारण हैं।

श्रीभगवान्के दस अवतारोंमेंसे प्रथम पांच अवतार प्रकट होनेके कारण साधारण हैं। मत्स्यावतार नैमित्तिक प्रलयके समय सृष्टि-बीजरक्षाके लिये हुआ था। कूर्मावतार समुद्रमथनके समय हुआ

था। वाराहावतार हिरण्याक्षबधके लिये हुआ था। नृसिंहावतार हिरण्यकशिपु बधके लिये हुआ था और वामनावतार बलिको राज्यच्युत करके इन्द्रको सर्वाधिकार दिलानेके लिये हुआ था।

दस अवतारोंमेंसे षष्ठ अवतारका नाम परशुराम अवतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्‌ने क्षत्रियशक्तिको बुरी तरहसे प्रबल तथा ब्राह्मण-शक्तिके प्रति विद्वेषयुक्त और नाशेच्छु देख कर इक्कीसबार पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया था। संसारकी स्थितिके तथा ब्रह्माण्डप्रकृतिके नियमानुसार धर्मकी रक्षा तभी हो सकती है जब ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति दोनोंमें समता रहे और एक दूसरेका नाश करनेवाली न हो। मनुसंहिताके नवम अध्यायमें लिखा है।

"नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥"

ब्रह्मशक्तिके विना क्षात्रशक्ति पुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्र-शक्तिके विना ब्रह्मशक्ति वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकती है। दोनोंकी समता अर्थात् सामञ्जस्यके द्वारा ही संसारका कल्याणसाधन होता है। परन्तु त्रेतायुगमें ऐसा एक समय आया था जिस समय क्षत्रियशक्ति और ब्रह्मशक्तिके बीचका सामञ्जस्य नष्ट होगया था और क्षात्रशक्तिके धर्मभावविहीन हो जानेसे संसारमें धर्मनाश, ब्राह्मणोंपर अत्याचार आदि होने लग गया था। दत्तात्रेयके वरसे उन्मत्त सहस्रबाहु, कार्तवीर्य्यार्जुन आदि प्रबल पराक्रान्त क्षत्रिय नरपतियोंने अपनी क्षत्रियशक्तिको धर्मनाश तथा ब्रह्मनाशके कार्यमें लगा दिया था, जिससे संसारमें बड़ी ही अव्यवस्था फैल गई थी। इस लिये श्रीभगवान्‌को उस समय अवतार धारण करके अधार्मिक क्षत्रिय शक्तिके नाशद्वारा संसारमें शान्तिस्थापन और धर्मकी रक्षा करनी पड़ी थी। यही परशुराम-अवतार धारण करनेका तात्पर्य है।

श्रीभगवान्‌के रामावतार धारण करनेपर परशुरामकी अवतार-

शक्ति रामचन्द्रमें खिंच गई थी, इसका वर्णन रामायणमें मिलता है। यथाः—

> "ततः परशुरामस्य देहान्निर्गत्य वैष्णवम्।
> पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुपागमत्॥"

परशुरामके द्वारा प्रदान किये हुए वैष्णवधनुमें बाणकी ये जना करते ही वैष्णवी शक्ति परशुरामको छोड़कर रामचन्द्रमें आ गई। देवतागण इस दृश्यको देखने लगे। यही संक्षेपसे परशुरामावतारका इतिहास है।

(रामावतार)

दश अवतारोंमेंसे सप्तम अवतारका नाम रामावतार है। परशुरामावतारके बाद ब्रह्माण्डप्रकृतिमें इस अवतारके प्रकट होनेका विशेष प्रयोजन हुआ था। इसलिये रामावतारके द्वारा संसारमें जो आदर्शजीवनका दृष्टान्त स्थापित हुआ है, इससे मनुष्यलोकमें अनन्तकाल तक अनेक प्रकारके कल्याणसाधन हो सकेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। रामावतारमें श्रीभगवान् विष्णु किस प्रकारसे चार भागमें प्रकट हुए थे, इस विषयमें रामायणके बालकाण्डके १८ सर्गमें वर्णन हैः—

> "कौसल्याजनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।
> विष्णोरर्द्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्॥
> भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।
> साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः॥
> अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
> वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्द्धसमन्वितौ॥"

अयोध्याधिपति महाराजा दशरथकी तीन रानियाँ थीं। उनमेंसे कौसल्या नामिका रानीने दिव्य-लक्षणोंसे युक्त रामचन्द्रको प्रसव किया, जो विष्णु भगवान्के अर्द्धांश थे। दूसरी रानी कैकेयीने

सत्यविक्रम, सर्वगुणसम्पन्न भरतको प्रसव किया, जो विष्णु भगवान्के चतुर्थांश थे। तीसरी रानी सुमित्राने वीर, सकल अस्त्रमें निपुण लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो पुत्र प्रसव किये जो विष्णु भगवानके अष्टमांश थे। इस प्रकारसे रामावतारमें अर्द्धांश, चतुर्थांश, और दो अष्टमांश मिलकर विष्णु भगवान्का पूर्णरूपमें अवतरण हुआ। माया परमात्माकी नित्यसङ्गिनी हैं। इसलिये महामायाने भी सीतादेवीरूपसे नारीजीवनका पूर्ण आदर्श संसारमें प्रकट करनेके लिये श्रीभगवान् रामचन्द्रको अर्द्धाङ्गिनी बनकर अवतार धारण किया। यथा रामोत्तरतापिन्युपनिषद्में:—

"श्रीरामसन्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता॥"

परमात्मारूपी श्रीरामके सान्निध्यसे जगत्की आधाररूपिणी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी मूलप्रकृतिरूपा श्रीसीता देवी हैं। रामावतारमें नरदेवरूपसे भगवान्का अवतार आदर्श मानव-जीवन बतानेके लिये हुआ था और नारीदेवीरूपसे प्रकृतिमाताका सीतारूप अवतार आदर्श नारी-जीवनका दृष्टान्त संसारमें स्थापन करनेके लिये हुआ था। इसलिये समस्त अंशावतारोंमेंसे रामावतार मुख्यतम है और इसीलिये संसारमें रामावतारकी इतनी पूजा है। जिस समय श्रीभगवान् रामरूपमें प्रकट हुए थे, उस समयके देशकालपर विचार करनेसे रामावतारकी आवश्यकता ठीक ठीक समझमें आती है। पूर्वावतार परशुरामके द्वारा इक्कीस बार पृथिवी क्षत्रियशून्य हो चुकी थी, जिससे संसारमें क्षात्रशक्तिका बहुत अभाव हो गया था। यह बात पहले ही कही गई है कि, संसारमें धर्मकी स्थिति और ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें नियम और व्यवस्था तभी तक रह सकती है जब तक ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिके बीचमें सामञ्जस्यकी

रक्षा हो। परशुराम-अवतारके समय क्षात्रशक्तिके अत्याचारसे यह सामञ्जस्य बिगड़ गया था। इसलिये श्रीभगवान्‌को परशुराम-रूपसे क्षात्रशक्तिका नाश करके उस समयके लिये दोनों शक्तियोंके बीचमें सामञ्जस्य स्थापन करना पड़ा। परन्तु यद्यपि उस प्रकार क्षात्रशक्तिके नाशके द्वारा उस कालके लिये ब्राह्म, क्षात्र—दोनों शक्तियोंमें समता स्थापित हुई; तथापि परवर्ती कालमें क्षत्रियवंश-नाशके कारण क्षात्रशक्ति धीरे धीरे हीनबल होने लगी, जिससे संसारमें धर्मरक्षाके कार्य्यमें बहुत ही बाधा हो कर युगानुकूल धर्मकी कमी हो गयी, अन्यपक्षमें धर्मरक्षक क्षात्रशक्तिके नाशसे ब्राह्मशक्ति बहुत अन्यायरूपसे बढ़ने लगी, जिस कारण ब्राह्मणवंशमें भी रावण जैसे अत्याचारी पापी दुर्दान्त राक्षस उत्पन्न होने लगे। इसलिये त्रेतायुगके उस कालमें ब्रह्माण्डप्रकृतिकी ओरसे यह प्रेरणा उत्पन्न हुई कि, ऐसी कोई अलौकिक भगवत्‌शक्ति अवताररूपसे प्रकट हो जो हीनबल क्षत्रियशक्ति पुनः जीवित करके क्षत्रियकुलमें एक आदर्श मानवचरित्र स्थापन कर सके और अन्य पक्षमें आसुर तथा राक्षस-भावापन्न ब्राह्मणशक्तिको नष्ट करके क्षात्रशक्तिके साथ ब्राह्मशक्तिका धर्मानुकूल सामञ्जस्य स्थापन कर सके। इन्हीं दोनों उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये श्रीभगवान् रामरूपमें क्षत्रिय-वंशमें प्रकट हुए। महा-मायाके भी सीतारूपमें अवतीर्ण होनेका कारण अति महान् है। दुर्दान्त कामुक रावणके अत्याचारसे अनेक सती स्त्रियाँ भ्रष्ट हो रही थीं, पातिव्रत्यका परम आदर्श संसारसे प्रायः लुप्त हो रहा था, सती स्त्रियोंके मर्मभेदी रोदन तथा अभिसम्पातसे दश दिशाएँ गूँज उठी थीं। इसलिये उस समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें यह आवश्यकता उत्पन्न हुई थी कि ऐसी एक आदर्श सती उत्पन्न हो, जिसके आदर्शको देख कर सतियोंके चित्तमें बल प्राप्त हो जाय और सती-धर्मका आदर्श-स्थापन तथा सतीत्वके प्रतापका चमत्कार संसारमें प्रकट हो जाय;

जिससे रावण जैसे प्रतापी राक्षस भी अग्निमें पतङ्गकी तरह जलकर खाक हो सके और जो अटल अचल पातिव्रत्यका आदर्श भविष्यत् कालमें भी संसारकी नरनारियोंके लिये कल्याणकारी हो जाय। ब्रह्माण्डप्रकृतिमें उत्पन्न इसी महान् प्रेरणाको सफल करनेके लिये महामायाका सीतारूपमें अवतार हुआ था।

रामावतारका चरित्र शिक्षाका भाण्डार है। विष्णु भगवान्के अंशसे उत्पन्न राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि चारों भ्राताओंने अपने अपने चरित्रोंसे संसारमें अपूर्व आदर्श स्थापन किया है। रामचन्द्रके चरित्रमें पूर्ण मानवका आदर्श प्रकट हुआ है और माता सीताके चरित्रमें पूर्ण नारीका आदर्श प्रकट हुआ है। पूर्ण मानव कौन है, जिसके आदर्शको देखकर प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवनको पूर्ण जीवन बना सकते हैं तथा प्रत्येक क्षत्रिय नरपति अपने राजधर्मके पूर्णानुष्ठान द्वारा इहलोक-परलोकमें कृतकृत्य हो सकते हैं इस प्रकारसे महामुनि वाल्मीकिके प्रश्न करनेपर देवर्षि नारदने श्रीभगवान् रामचन्द्रको ही ऐसे पूर्ण मानवके आदर्शरूपसे वर्णन किया था। यथा रामायणके बालकाण्डमेंः—

"इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिवर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढ़जत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥

प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥
स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥
धनदेवसमस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥"

इक्ष्वाकुवंशमें जगत्-प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र उत्पन्न हुए हैं, जिनके भीतर एकाधारमें पूर्ण मानवके समस्त गुण विद्यमान हैं। वे संयतात्मा, महावीर्यवान्, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, राजनीति आदिके पूर्णज्ञाता, वक्ता, श्रीमान्, बहिरन्तर शत्रुओंके नाशकर्त्ता, विपुलमस्तक, महाबाहु, शङ्खकी तरह रेखात्रयविशिष्ट ग्रीवावान्, मांसपूर्णहनुयुक्त, विशालवक्ष, महाधनुर्धर, मांसोंसे पूर्ण वक्षास्थिसे युक्त शत्रुदमनकारी, आजानुलम्बित बाहु, सुशील, सुललाट, गजेन्द्रगति, समान अङ्ग प्रत्यङ्गसे युक्त, समविभक्ताङ्ग, स्निग्ध, श्यामलवर्ण, प्रतापवान्, उन्नतवक्ष, विशालनेत्र, लक्ष्मीवान्, शुभलक्षण, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, प्रजाहितपरायण, कीर्त्तिसम्पन्न, शौचसम्पन्न, बाह्याभ्यन्तरशुद्ध, विनयशील, योगयुक्त, प्रजापतितुल्य, ऐश्वर्यवान्, प्रजापोषणसामर्थ्ययुक्त, बाह्याभ्यन्तररिपुनाशक, जीवोंके रक्षक, मर्यादा पालन द्वारा धर्मरक्षक, स्वधर्मके रक्षक, स्वजनोंके

रक्षक, वेदवेदाङ्गोंके मर्मज्ञाता, धनुर्वेदके सम्यग्ज्ञाता, श्रुति स्मृति आदि सकल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञाता, पठित शास्त्रोंके स्मरणकर्ता, उप. स्थितबुद्धि; सर्वलोकप्रिय, मृदुमधुरस्वभाव, अदीनस्वभाव, लौकिका· लौकिकसकलक्रियाकुशल, नदियोंके द्वारा समुद्रकी तरह सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सेवित, सर्वपूज्य, सुखदुःखादिद्वन्द्वविकाररहित, सकल अवस्थामें प्रियदर्शन, सर्वगुणोंसे युक्त, नरपतिकी योग्यतासे युक्त, समुद्रके तुल्य गाम्भीर्ययुक्त, हिमाचलके तुल्य धैर्ययुक्त, विष्णुके तुल्य वीर्ययुक्त, चन्द्रके तुल्य प्रियदर्शन, युद्धकालीन क्रोधके समय कालाग्निके तुल्य, क्षमामें पृथिवीके तुल्य, धनदानमें कुबेरके तुल्य और सत्यपालनमें साक्षात् धर्मराजके तुल्य हैं। इतने गुण एकाधारमें होनेके कारण ही श्रीरामचन्द्र समस्त मनुष्य, समस्त क्षत्रिय, समस्त नृपति तथा गृहस्थमात्रके पूर्णादर्शस्वरूप थे। क्षत्रिय नृपतिका सार्थक जीवन तभी होता है जब उनके शासनमें प्रजा सकल प्रकारके सुखकी अधिकारी हो। श्रीरामचन्द्रके राजत्वमें इस आदर्शका पूर्ण विकाश हुआ था। रामराज्यके समय प्रजा जिस प्रकार सुखी हुई थी ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होने की आशा है। जैसा कि युद्धकाण्डके अन्तमें रामायणमें बताया गया है। यथा—

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम्॥
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति॥

नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः॥
स्वकर्मसु प्रवर्त्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः॥
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः॥

श्रीरामचन्द्रके राज्यकालमें स्त्रियोंको वैधव्यदुःख नहीं देखना पड़ता था और किसीको भी सर्पभय तथा रोगका भय नहीं होता था। चोर दस्यु आदिका कोई भी अत्याचार नहीं था, किसी प्रकारका उपद्रव नहीं था और वृद्ध पिता-माताको कभी उनके जीते हुए मृतपुत्रका श्राद्धकर्म नहीं करना पड़ता था। सभी लोग आनन्द-पूर्ण और सभी धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्रके धार्मिकभावका आदर्श पाकर कोई भी परस्पर हिंसामें लिप्त नहीं होते थे। सहस्रों पुत्रोंके साथ सहस्रों वर्षोंतक नीरोग तथा शोकशून्य हो कर मनुष्य जीवित रहते थे। वृक्षगण सदा ही फल फूल मूलोंसे सुशोभित रहा करते थे, इच्छामात्रसे ही मेघ जल-वर्षण करता था और शीतल मन्द सुगन्ध सुखस्पर्श वायु बहा करता था। अपने कर्मसे तृप्त हो कर प्रजा अपने कर्ममें ही तत्पर रहती थी, सभी लोग धर्मपरायण थे और कहीं भी मिथ्या-व्यवहारका प्रचार नहीं था, सभी शुभलक्षण और स्वधर्मसे विभूषित थे। यही आदर्श नरपति श्रीरामचन्द्रके पुण्यबलसे रामराज्यमें प्रजासुखकी पराकाष्ठाका अपूर्व दृष्टान्त है। प्रजापालन तथा प्रजारञ्जनके लिये ही आठ लोकपालोंके अंशसे राजाका जन्म होता है। प्रजारञ्जन करनेवाले राजा ही वास्तवमें देवता हैं। प्रजापीडक राजा असुरोंके अंशसे अथवा राक्षसोंके अंशसे उत्पन्न है ऐसा शास्त्रका सिद्धान्त है। प्रजा जिनका प्राण है ऐसे राजाका ही जीवन यथार्थ है; अन्यथा राजाका जीवन-धारण करना ही वृथा है। इस परमधर्मकी पूर्णता श्रीरामचन्द्रके जीवनमें

ही पायी गयी थी। श्रीरामचन्द्र अत्यन्त प्रजावत्सल थे, प्रजारञ्जन ही उनका एकमात्र व्रत था, प्रजाके सुखके लिये ही उनका जीवन धारण था और संसारमें ऐसा कोई कार्य्य नहीं था जो प्रजारञ्जनके लिये वे कर नहीं सकते थे। उनका समस्त प्राण, समस्त सुख प्रजा-रञ्जनरूपी होमाग्निमें पवित्र घृतकी तरह आहुति प्राप्त हो गया था। संसारमें ऐसे कोई नरपति नहीं मिलेंगे जो केवल प्रजारञ्जनके लिये पूर्ण निर्दोषा परमप्रिया पतिव्रता अपनी सहधर्मिणीको भी परि-त्याग कर सके। परन्तु श्रीरामचन्द्रजीके जीवनमें ऐसा भी हुआ था। उन्होंने सब ओरके कर्त्तव्योंको तिलाञ्जलि देकर, इतना तक कि अपने हृदयके शुद्ध ज्ञानका भी गला घोटकर, पूर्ण पवित्रा जानने-पर भी केवल प्रजारञ्जनके लिये ही परमसती परमप्रेमवती निर्दोषा सीताको भी वनवास दिया था। यही सब उनके जीवनमें आदर्श क्षत्रिय तथा आदर्श नरपतिके लक्षण हैं। इसके सिवाय आदर्श गृहस्थ तथा आदर्श मानवमें जितने गुण होने चाहिये, देवर्षि नारदके वर्णनानुसार वे सभी श्रीभगवान् रामचन्द्रमें पूर्णरूपसे प्रकट हुए थे। इसी कारण संसारमें श्रीरामावतारकी इतनी पूजा तथा प्रतिष्ठा है।

(कृष्ण बलरामावतार)

दस अवतारोंमेंसे अष्टम अवतारका नाम बलराम और कृष्णा-वतार है। इनमेंसे बलराममें अंशकलाका विकाश और कृष्णमें पूर्ण कलाका विकाश हुआ था। यथा श्रीमद्भागवत्‌के दशम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें—

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥

श्रीभगवान्‌के अंशरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीभगवान् कृष्णके प्रिय कार्य करनेके लिये बलरामरूपसे पहले ही उत्पन्न होंगे। श्रीकृष्णके विषयमें पहले ही कहा गया है—

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

और सब अंशावतार हैं, कृष्ण पूर्णावतार होनेसे साक्षात् ईश्वररूप हैं। कलाके विकाशके क्रमसे अंशावतार और पूर्णावतारके स्वरूप तथा कामोंमें भेद पाये जाते हैं। अंशावतारोंमें प्रयोजनके अनुसार भगवान्की शक्ति नौकलासे पन्द्रह कला तक विकाशको प्राप्त होती है और पूर्णावतारमें सोलह कलाका पूर्ण विकाश हो जाता है। अंशावतार और पूर्णावतार दोनोंका ही उदय समष्टि-जीवोंके कल्याणके लिये होनेपर भी अंशावतार द्वारा अंशरूपसे समयके अनुकूल कल्याण होता है और पूर्णावतारके द्वारा पूर्ण तथा सब समयोंमें उपकार करने वाला कल्याण होता है। परन्तु पूर्णावतारमें भगवान्की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध शक्तियोंकी पूर्णता रहने पर भी अंशावारके कार्य्यसमूहकी उपकारिता उस देशकालके लिये अधिक आवश्यकीय और उपयोगी हुआ करती है, इसी कारण अंशावतारोंकी महिमासे पुराण शास्त्र पूर्ण हैं। इसी कारण दस अवतार तथा चौबीस अवतारोंमें भगवान् कृष्णका नाम न हो कर प्रायः बलरामका नाम ही पाया जाता है। अंशावतार परशुराम, बुद्धदेव आदिके द्वारा आंशिक, और उस समयके योग्य कल्याण हुआ था और पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा सब जीवोंका जो कल्याण हुआ हैं वह नित्य पूर्ण और सदा फल देने वाला कल्याण है। अंशावतारके द्वारा केवल उस समयके अनुकूल कल्याण होनेसे उसमें कभी कभी यह भी हो सकता है कि एक देश और कालमें जो कल्याण करने वाला हो वही अन्य देश और कालमें अमङ्गल करने वाला हो जाय और उसके सुधारके लिये दूसरे अवतारका प्रयोजन हो। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अंशावतार परशुरामने संसारको क्षत्रियविहीन करके उस थोड़े समयके लिये भले ही हित किया था, किन्तु आगेके समयोंके लिये उस प्रकार

क्षत्रियोंका नाशरूपी कार्य्य संसारके लिये अनिष्ट करनेवाला हो गया था। इसलिये श्रीभगवान्‌को रामावतार धारण करके आगेके समयोंके लिये उस अमङ्गलका निवारण करना पड़ा था; उसी प्रकारसे अंशावतार बुद्धदेवजीने ईश्वर और वेदका खण्डन करके अहिंसाके प्रचारके द्वारा जो समष्टिजीवका कल्याण किया था वह केवल उसी समयके थोड़े देश और कालके लिये था। परन्तु आगेके समयोंमें वेद और ईश्वरका खण्डन अत्यन्त अमङ्गल करने वाला हो जाने पर फिर भी श्रीभगान् शिवको शङ्कराचार्य्य रूपमें प्रगट हो कर वेद और यज्ञका मण्डन करना पड़ा और अमंगल करनेवाले बौद्धोंको भारतवर्षसे निकाल देना पड़ा। परन्तु श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार कृष्णके द्वारा जो कल्याण किया गया था, वह उस प्रकार उसी थोड़े समयके लिये कल्याण नहीं था। वह कल्याय सब देशमें, सब कालमें सभी जीवोंके लिये था। यही अंतावतारके साथ पूर्णावतारके कामोंमें भेद है। अंशावतारमें अंशकलाका विकाश रहनेसे उनके सभी काम किसी एक भावकी प्रधानताको लेकर होते हैं। परन्तु पूर्णावतार सब भावके परे होनेसे उनके कामोंमें किसी भी भावका अवलम्बन नहीं होता है। इसमें और भी विशेषता यह रहती है कि अंशावतारमें एक भावकी प्रधानता रहनेसे दूसरे भाव तथा कभी कभी ज्ञानविचार आदिकी गौणता हो जाती है। परन्तु पूर्णावतार भावके बाहर होनेसे उनमें आवश्यकताके अनुसार और प्रकृतिकी प्रेरणाके अनुसार सभी भाव आजाते हैं और ज्ञानविचारमें कोई भी कमी नहीं रहती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि श्रीरामचन्द्रमें अंश कलाका विकाश रहनेसे उनके सभी कार्य्य केवल मर्यादाके भावकी प्रधानताको लेकर होते थे और उस मर्यादाके भावकी रक्षाके लिये ज्ञानविकाश भी कभी कभी गौण हो जाता था, जैसा कि सीतादेवीको ठीक निर्दोष जाननेपर भी उन्होंने केवल

लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये वनवास दिया था और ज्ञानविचारको गौण करके वाल्मीकि महर्षिके आग्रह करनेपर भी लेनेको अस्वीकार किया था। उसी प्रकार अंशावतार बुद्धदेवने भी अहिंसा भावकी प्रतिष्ठाके लिये ज्ञानविचारको गौण करके आस्तिकताका भी त्याग कर दिया था। और योग्य अयोग्य स्त्री पुरुष सभीको गृहत्यागी संन्यासी बनाने लग गये थे। परन्तु पूर्णावतारके काममें इस प्रकार किसी एक भावका पक्षपात नहीं पाया जाता है। वे भावराज्यके बाहर होनेसे केवल संसारके कल्याण करनेकी बुद्धिसे प्रेरित हो कर सभी भावके काम करनेमें लग जाते हैं। उनके जीवनमें लौकिक-भाव या अभाव, धर्म या अधर्म, कार्य्य या अकार्य्य, पुण्य या पाप, सत्य या असत्य किसीका भी पक्षपात नहीं रहता है। वे सभी भावों-में रमजानेपर भी किसी भावमें बाँधे नहीं जाते हैं। उनकी भावा-तीत पूर्ण स्थितिमें लौकिक परस्पर विरोधी सभी भाव समुद्रमें नदियोंकी तरह लय हो जाते हैं। और केवल संसारके कल्याणमूलक पूर्ण ज्ञानका विचार उनकी क्रियाओंमें रहता है। और यही भाव-राज्यमें अंशावतारके कामोंके साथ पूर्णावतारके कार्य्यसमूहका भेद है। अंशावतारमें अंशकलाका विकाश होनेसे उनमें कभी कभी किसी किसी भावका उन्माद भी हो सकता है। और उसी उन्मादके कारण दूसरे भावोंको वह अवतार तुच्छ दृष्टिसे भी देख सकता है। परन्तु पूर्णावतार भावके अतीत होनेसे उनमें सब भावोंकी समता और किसी भी भावका उन्माद नहीं रहता है। वे आवश्यकताके अनुसार सभी भावसे काम लेते हैं और किसीपर भी चित्तका अभिमान नहीं रखते हैं। श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्दरूप हैं। इसलिये पूर्णावतारमें इन तीनों सत्ताओंका पूर्ण विकाश होनेके कारण पूर्णावतारके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों-की लीला पूर्णरूपसे देखनेमें आती है। और उनमें इन तीनोंकी

समता भी रहती है। परन्तु अंशावतारमें अंशकलाके विकाशके कारण कर्म उपासना और ज्ञानकी लीला पूर्णरूपसे विकाशको प्राप्त नहीं होती है। अंशावतारोंमेंसे किसीमें कर्मका प्राधान्य, किसीमें उपासनाका और किसीमें ज्ञानका प्राधान्य देखनेमें आता है। वामनावतारमें ज्ञानका प्राधान्य था, परन्तु परशुराम अवतारमें इतना नहीं था। यह ज्ञानके अप्राधान्यका ही कारण है कि, परशुरामजी श्रीरामचन्द्रको देखकर भी पहचान न सके और उद्दण्डताके साथ उनसे लड़नेमें प्रवृत्त हो गये थे। ज्ञान, कर्म और उपासनामें सामञ्जस्य न रहनेके कारण ही श्रीरामचन्द्र आत्माको भूलकर साधारण जनोंकी तरह अनेक कार्य्य करते थे और बुद्धदेवने आस्तिकताके विरुद्ध अनेक कार्य किये। ईश्वरमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों शक्तियोंका पूर्ण समावेश रहता है। इसलिये पूर्णावतारमें भी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों शक्तियोंका पूर्ण विकाश रहता है। परन्तु अंशावतारमें अंशकलाका विकाश रहनेसे इन दोनों शक्तियोंकी पूर्णता नहीं हो सकती है। यथा—रामावतारमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंका विशेष विकाश था परन्तु किसीका भी पूर्ण विकाश नहीं था। नृसिंह और वामनावतारमें ऐश्वर्यका विशेष विकाश था और माधुर्यका कम विकाश था। बुद्धावतारमें माधुर्यका विशेष विकाश था परन्तु ऐश्वर्यका कम विकाश था। परशुराममें ऐश्वर्यका विशेष विकाश था परन्तु माधुर्यका नाममात्रका विकाश था। पूर्णावतारमें स्वरूपका पूर्ण विकाश होनेके कारण उनमें प्रकृति छिप जाती है और छिपी प्रकृति तमोमयी होनेके कारण पूर्णावतार कृष्णवर्ण होते हैं। अंशावतारके साथ प्रकृतिका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहनेके कारण उसी विकाशके क्रमके अनुसार अंशावतारमें अलग अलग वर्ण होते हैं और कोई भी कृष्णवर्ण नहीं होते हैं। प्राकृतिक समता ही सौन्दर्यका लक्षण है। जिस पुरुष या स्त्रीमें अङ्ग प्रत्यङ्गकी जितनी

समता (Symmetry) होती है, वे उतनी ही सुन्दर दिखते हैं। उसी प्रकार मानसिक विरुद्ध वृत्तियोंकी समता द्वारा मनकी सुन्दरता और आत्माके विविधभावोंकी समता द्वारा आत्माकी सुन्दरता प्रकाशित होती है। पूर्णावतारमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक त्रिविध पूर्णता होनेसे उनमें स्थूल शरीरके अङ्गप्रत्यङ्गोंकी पूर्ण समता, मानसिक वृत्तियोंकी पूर्ण समता, तथा आत्मसम्बन्धीय भावोंकी पूर्णसमता होना विज्ञानानुकूल और अवश्यम्भावी है। इसलिये पूर्णावतारका स्थूल शरीर पूर्णसुन्दर, मन पूर्ण सुन्दर और आत्मा पूर्ण सुन्दर होते हैं। अंशावतारके कलाभेदानुसार इन त्रिविध सुन्दरताओंका तारतम्य होता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव भगवान्‌के हैं। श्रीभगवान् इन तीनोंकी पूर्णतासे पूर्ण हैं। इस लिये उनके पूर्णावतारमें भी इन तीनोंका पूर्णविकाश होना स्वाभाविक है। अधिभौतिक पूर्णता होनेसे सौन्दर्य और ब्रह्मचर्य्यकी पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता होनेसे शक्ति और ऐश्वर्यकी पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता होनेसे ज्ञानकी पूर्णता होना पूर्णावतारमें स्वतः सिद्ध है। अंशावतारमें कलाविकाशके तारतम्यानुसार उक्त त्रिविध भावोंके विकाशमें भी तारतम्य रहेगा। यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत तीनों भावोंसे पूर्ण थे और अन्यान्य अवतारोंमें इन भावोंके विकाशका तारतम्य था। यही सब पूर्णावतार और अंशावतारके स्वरूप तथा लीलामें विकाश प्राप्त हुए भेद हैं।

अब पूर्णावतार श्रीकृष्णके प्रकट होनेका कारण बताया जाता है। अग्निपुराणमें लिखा है यथा—

यदोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्तदुत्तमः।
भुवो भारावताराथँ देवक्यां वसुदेवतः॥

यदुवंसमें जो यादवगण उत्पन्न हुए थे उनमेंसे वासुदेव श्रीकृष्ण प्रधान थे। वसुदेव और देवकीके द्वारा उनका जन्म हुआ था। पृथिवीके भारहरणके लिये ही उनका अवतार हुआ था। श्रीकृष्ण और बलरामके अवतारके पहिले पृथिवी असुरभारसे पीड़ित हो गई थी और गौका रूप धारण करके रोती रोती ब्रह्माजीकी शरण ली थी और ब्रह्मा आदि देवताओंने भी श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ली थी। उस समय एक ओर तो कंस, जरासन्ध आदि प्रबल असुरोंके अत्याचारसे संसार अत्यन्त पीड़ित हो रहा था, संसारसे भगवान्का नाम लोप हो रहा था, धर्मकी धारा एक बार ही नष्ट हो चली थी और दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरव राजाओंके पापाचरणसे राजा और प्रजा दोनों में ही भयंकर रूपसे पापकी वृद्धि हो रही थी। यह बात शास्त्रमें वर्णित है कि सनकादि मुनियोंके शापवश जय और विजय नामके विष्णु भगवान्के दो द्वारपाल विष्णुलोकसे पतित हो गये थे और उनको यह वर मिला था कि यदि विष्णुके साथ शत्रुताका आचरण करेंगे तो तीन जन्ममें उनकी मुक्ति होगी। इसके अनुसार जय और विजयका प्रथम जन्म हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु रूपमें हुआ था जिनको वाराहावतार और नृसिंहावतारमें श्रीभगवान्ने मार दिया था। उनका दूसरा जन्म रावण और कुम्भकर्णरूपमें हुआ था जिनको श्रीरामावतारमें भगवान्ने मार दिया था। उनका तृतीय जन्म शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें हुआ था जिनको श्रीकृष्णावतारमें भगवान्ने मार दिया था। इसी लिये कृष्णावतारके पहले शिशुपाल और दन्तवक्र नामक असुरोंके अत्याचारसे भी पृथिवी उत्पीड़ित हो उठी थी। इसके सिवाय अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, गर्द्दभासुर, अरिष्ट, वृषभ, केशी, प्रलम्ब, चाणूर, तृणावर्त्त, मुष्टिक, नरकासुर, पञ्चजन, कालयवन, शम्बर, बाण आदि कितने

ही असुर उस समय उत्पन्न हो गये थे, जिनके पापाचरण और अत्याचारसे पृथिवी बहुत ही दुःखिता हो गई थी और संसारमें धर्मका एक वार ही लोप हो चला था। अतः इन सब असुरोंके पापके बड़े बोझसे पृथिवीको बचानेके लिये और पापको नाश करके समयके योग्य धर्मकी धाराको प्रवाहित करनेके लिये पूर्णकलामें श्रीकृष्णका और अंशकलामें बलरामका अवतार हुआ था। धर्मकी व्यवस्था कितनी गिर गई थी सो इसीसे समझ सकते हैं कि, तुरन्त उत्पन्न बालकको मारनेमें, अपनी सहोदर बहिन और बहनोईको अन्यायरूपसे कैद करके लगातार उनकी सन्तानोंको जन्म लेते ही मार देनेमें और अपने पिता उग्रसेनको भी कैद करनेमें दुरात्मा कंसको कोई भी सङ्कोच नहीं था। आज हिन्दुसमाज इतना गिर गया है तौ भी अपनी रजस्वला एकवस्त्रा भौजाईको भरी हुई सभाके बीचमें नग्न करनेकी पाप इच्छा कभी भाईके हृदयमें आज भी नहीं उत्पन्न हो सकती है। परन्तु जहां पर रजस्वला द्रौपदी भरी सभाके बीचमें नग्न की जाय और भीष्म-पितामह जैसे महात्मा उसको देखते रहें और एक शब्द उनसे न कहा जाय, वहांपर समाजकी दशा कितनी शोचनीय होगई थी, इसको विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकते हैं। जहां पर बालब्रह्मचारी भीष्म-पितामहकी बुद्धिपर भी अज्ञानका मेघ घिर जाय और द्रोण आदि सात रथी एकाकी अस्त्र शस्त्रसे रहित असहाय अभिमन्युको डरपोककी तरह मार कर भी अपनी बीरता समझें, वहां पर क्षत्रिय धर्म कितना नष्ट हो गया था यह सभी अनुमान कर सकते हैं। पिताकी सम्पत्तिके आधा अंश प्राप्त करनेका अधिकार पाण्डवोंको अवश्य था। और बड़े भाईके पुत्र होनेसे धर्मतः युधिष्ठिरको ही राज्यका अधिकार था। परन्तु राज्य देना तो दूर रहा जुआमें हरा करके कितने वर्षों तक पाण्डवोंको कौरवोंने जङ्गलमें घुमाया और संसारमें ऐसा कोई

अन्यायका बर्ताव नहीं है जो उनके साथ नहीं किया गया और बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवासके अनन्तर जब पाण्डवोंने आधी सम्पत्ति मांगी तो दुष्ट दुर्योधनने अस्वीकार कर दिया। फिर भी पांच ग्राम जब श्रीकृष्णजीने उनके लिये मांगे तब भी अस्वीकार कर दिया और दुर्योधनने कहा—

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिनी।
तदर्द्धं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशवः॥

एक सूईके आगे जितनी भूमि आती है उसका भी आधा भाग युद्ध किये विना नहीं मिलेगा और केवल इतना ही नहीं, घमण्डी दुर्योधनने, जिनके चरणकमलोंके आश्रयसे जीव संसारके बन्धनसे मुक्त होता है, उसी श्रीकृष्णचन्द्रको बांधनेकी आज्ञा दी। इससे सभी लोग समझ सकते हैं कि कृष्णावतारके पहले संसारमें कितना पाप बढ़ गया था। इन्हीं पापियोंका नाश करके पृथ्वीका पापभार दूर करके धर्मकी धाराकी वृद्धिके लिये ही पूर्णकलामें श्रीभगवान्‌का अवतार हुआ था। गुरु सबके पूज्य होते हैं, शिष्यपर उनका ममत्व होता है, परन्तु जहाँ पर गुरु शिष्यका तथा शिष्य पुत्रका प्राण विनाश करें और गुरुपुत्र अश्वत्थामा नींदकी अवस्थामें शिष्य-पुत्रोंका प्राणविनाश करनेमें संकोच न करें वहां पर कितना पाप बढ़ गया था इसको सभी लोग अनुभव कर सकते हैं। आर्यशास्त्र-के सिद्धान्तके अनुसार बालककी हत्याके समान पाप नहीं है और निद्रित अवस्थामें मनुष्यकी बात ही क्या, वृक्षपर चोट लगाना भी पाप है; परन्तु द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने निद्रित अवस्थामें ही द्रौपदी-के पांच बालकोंका प्राण विनाश कर दिया था और गर्भमें ही परी-क्षितको मार डालनेके लिये उत्तराके गर्भमें ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया था। ऐसे ऐसे भयङ्कर पाप द्वापर और कलिके सन्धिकालमें भारतवर्षमें फैल गये थे। और और अवतार जिस कालमें प्रकट

हुए थे उस समय केवल कलावताररूपमें भगवान् उस समयके विघ्नोको दूर करनेमें समर्थ हुए थे। परन्तु द्वापर युगका अन्त और कलियुगका प्रारम्भरूप सन्धिका समय इतना भयानक हो गया था कि, उस समय श्रीबलराम-अवतार कलारूपसे प्रकट होने-पर भी पूरा कार्य न होते हुए देखकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके रूपमें सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णावतारके प्रकट होनेकी भी आवश्यकता हुई थी। सत्त्वगुणसे तमोगुणका प्रभाव जब बढ़ जाता है, धर्मका स्रोत घट कर अधर्मका प्रवाह जब अधिकरूपसे प्रवाहित होता है, दैवीशक्तिसे आसुरीशक्तिकी जब प्रबलता देखनेमें आती है तभी भगवान्को अवताररूपसे प्रकट होनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु यह साधारण नियम है। ऐसे साधारण नियमके अनुसार श्रीभगवान्के कलावतार अपने नौसे पन्द्रह तककी कलाओंको धारण करके तमके विनाश द्वारा सत्त्वका विकाश, धर्मके स्थापन द्वारा अधर्मका नाश और आसुरी शक्तिके पराजय द्वारा दैवीशक्तिकी स्थापना किया करते हैं। परन्तु यह द्वापर और कलियुगकी सन्धिका समय इतना विकट था कि जिस समयके सुधारनेके लिये एक कलावतारके साथ पूर्णावतारके प्रकट होनेकी आवश्यकता हुई थी। इस कालके विकट होनेका साधारण लक्षण ऊपर कहा गया है। परन्तु सूक्ष्म विचार द्वारा और भी कहा जा सकता है। उस समय तमके द्वारा सत्त्वगुण किस प्रकारसे ढक गया था और अधर्मके द्वारा धर्मकी मर्यादा किस प्रकारसे दबाई गई थी इसके उदाहरण ऊपर दे ही चुके हैं। अब संक्षेपरूपसे उस कालकी अत्यन्त ही अधिक भयंकरताके विषयमें इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि, उस समय जो देवताओंके अवतार उत्पन्न हुए थे, यथा—वसुके अवतार भीष्मदेव, सूर्यके अवतार कर्ण इत्यादि वे भी कालकी करा-लताके कारण असुर अवतार दुर्योधन आदिके घोर पक्षपाती बन

गये थे और इनकी असावधानतासे तथा असुरावतारोंके अत्याचारसे कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड तीनोंमें ही हेरफेर उत्पन्न हो गया था। यही सब अंशावतारके साथ श्रीभगवान्‌के पूर्णकलामें प्रकट होनेका संक्षेप रहस्य है।

अब कृष्ण बलरामावतारके संक्षिप्त इतिहास नीचे कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवतादिके वर्णनके अनुसार श्रीकृष्ण और बलरामके गोप-राज नन्दके गृहमें वसुदेव तथा महामायाके द्वारा दिये जानेपर परम-स्नेह करनेवाले नन्दजी दोनों बालकोंकी रक्षामें लग गये। यशोदा और नन्दके प्रेमसे भरे हुए पालनपोषणसे राम और कृष्ण दोनों भाई दिनों दिन बढ़ने लगे। मथुराके राजा कंसराज भी उनके नाशके लिये बहुत यत्न करने लगे। समस्त संसारके प्रतिपालक संसारके उद्धारके लिये गोपालरूपमें गौओंको चराते हुए सानन्द नन्दरायके भवनमें विचरण करने लगे। श्रीकृष्णको मारनेके लिये कंसने पहले पहल पूतना नामकी राक्षसीको गोकुलमें भेज दिया। उसने छलसे श्रीकृष्णको विष मिले हुए अपने स्तनका दूध पिलानेकी चेष्टा की; परन्तु अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने स्तन-पानके छलसे पूतनाका प्राण ही पी लिया और उसको मार दिया। तदनन्तर किसी समय यशोदाके द्वारा ओखलीमें बद्ध हो कर श्रीकृष्णने शापसे गिरे हुए यमल और अर्जुन नामक वृक्षयोनिमें प्राप्त दो देवोंका यमलार्जुन वृक्षको धक्केसे गिरा उद्धार कर दिया और पैरोंके धक्केसे कंसके भेजे हुए शकटासुरका भी बध कर दिया। किसी समय श्रीकृष्णने यमुनाह्रदनिवासी भीषण विषधर कालीय नागको दमन किया और उसे यमुनासे निकालकर समुद्रमें भेज दिया। तदनन्तर क्रमशः श्रीकृष्णजीने अरिष्ट, वृषभ और हयरूपी केशी दानवको मार दिया और धेनुक तथा गर्दभ नामक दो असुरोंको मार कर प्रसिद्ध ताल-वनको निरुपद्रव किया। तदनन्तर श्रीकृष्णजीने गोकुलमें इन्द्र

देवका उत्सव नहीं होने दिया। उसपर इन्द्रने गोकुलमें मूषलधार जल-वर्षण प्रारम्भ किया। श्रीकृष्णजीने गोवर्द्धन धारण करके इन्द्रके कोपसे ब्रजवासियोंकी रक्षा की। गोपियोंके साथ उनकी परमगूढ़ और चमत्कार लीलाके विषयमें बहुत कुछ वर्णन शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। इस प्रकारसे ब्रजमें रहनेके समय अपनी पूर्णावतार-लीलाके अनेक अंश श्रीकृष्णजीने समाप्त किये। बाद कंसके द्वारा निमन्त्रित हो कर भक्त अक्रूरकी प्रार्थनासे कृष्ण और बलराम दोनों भ्राता मथुराको गये वहां पर कंसने राम और कृष्णको मारनेके लिये बहुत कुछ तैयारी कर रक्खी थी। पहले ही कंसके राजद्वारपर कुवलयापीड नामका मतवाला हस्ती बंधा हुआ था। श्रीकृष्णजीने उस हाथीको मार दिया और बलरामके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया। वहांपर चाणूर और मुष्टिक नामक दोनों मल्ल असुरोंके साथ राम और कृष्णका मल्लयुद्ध हुआ और दोनों ही उनके हाथसे मारे गये। तदनन्तर श्रीकृष्णजीने मथुरापति कंसको मार दिया और उनके पिता उग्रसेनको मथुराके राजपदपर अभिषिक्त किया। तदनन्तर जरासन्धकी कन्या कंसकी स्त्री अस्ति और प्राप्तिकी उत्तेजनासे जरासन्ध नामक दैत्यने मथुरापर आक्रमण किया। उस पर यादवोंके साथ जरासन्धका घोर संग्राम होने लगा और अनेक लड़ाइयोंके बाद जरासन्ध कृष्णके हाथसे हार गये। तदनन्तर कृष्ण और बलराम मथुरा त्यागकर गोमन्तकमें आये और पौण्ड्रक आदिको पराजित करके यादवोंके साथ द्वारकापुरीमें निवास करने लगे। कुछ कालतक द्वारकामें निवास करनेके बाद श्रीकृष्णजीने नरकासुर-को मार दिया और उनके द्वारा इकट्ठी की हुई अनेक सहस्र देव, गन्धर्व और यक्ष कन्याओंके साथ विवाह किया। इस प्रकारसे उनकी सोलह हजार साधारण रानियां और रुक्मिणी आदि आठ पटरानियाँ हुईं। सत्यभामाके साथ गरुड़पर चढ़कर श्रीकृष्णजीने

इन्द्रको पराजित किया और पारिजात लाकर सत्यभामाको दिया। पञ्चजन नामक दैत्यको हराकर श्रीकृष्णजी यमराजसे पूजित हुए। सान्दीपनी मुनिके पास विद्या प्राप्त करके गुरुदक्षिणारूपसे उनके मृतपुत्रको पुनर्जीवित कर दिया। दुर्दान्त कालयवन श्रीकृष्णके हाथसे मारे गये। कृष्णके पौत्र अनिरुद्धके साथ वाणकन्या ऊषाका गुप्त विवाह हुआ था। इसको सुनकर दैत्यराज वाणने अनिरुद्ध-पर आक्रमण किया। वाण प्रसिद्ध शिवभक्त थे इसलिये शिव भी वाणके सहायताके लिये संग्राममें आये। अनिरुद्धकी विपत्ति सुनकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्नके साथ वाणपुरीमें आगये और अग्नि तथा माहेश्वरज्वरको पराजित करके शङ्करके साथ युद्धमें प्रवृत्त होगये। हरि और शङ्करका भयानक युद्ध हुआ। नन्दी, स्कन्द आदि भी उस युद्धमें आये थे। अनेक युद्धके बाद श्रीकृष्णजीने जृम्भणास्त्रके द्वारा शङ्करकी सेनाओंको मुग्ध कर दिया और तीक्ष्ण वाणके प्रयोगसे वाणराजके सहस्रबाहु छिन्न कर दिये। तदनन्तर शङ्करकी प्रार्थनासे श्रीकृष्णने वाणको अभयदान किया और द्वारकाको चले आये। बलरामके द्वारा भी प्रलम्ब, द्विविद आदि अनेक दैत्योंका निधन, कौरवोंका मदमर्दन और यमुनाका आकर्षण हुआ था। श्रीकृष्णके द्वारा उनकी अष्ट प्रधाना तथा अन्यान्य सोलह सहस्र स्त्रियोंसे अनेक सहस्र यादवोंकी उत्पत्ति हुई थी जिन्होंने उस समय संसारभार स्वरूप अगणित दैत्योंका नाश करके श्रीभगवान्‌की अवतारलीलामें विशेष सहायता की थी। उनके विषयमें श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भी लिखा है। यथा–

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता ववाधिरे॥
तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप॥

देवासुर संग्राममें मारे हुए अनेक भीषण दैत्य मनुष्यलोकमें उत्पन्न हो कर प्रजाओंको पीड़ा देने लग गये थे। इसलिये उनके निग्रहार्थ श्रीभगवान्की पूर्ववर्णित आज्ञाके अनुसार यदुकुलमें भी अनेक देवता मनुष्यरूपमें उत्पन्न हो गये थे जिन्होंने उन दैत्योंके अत्याचारसे प्रजा तथा पृथ्वीकी रक्षा की थी। श्रीभगवान्की लीलाका द्वितीय अंश पाण्डवोंके साथ योगदान करके दुर्योधन आदि आसुरप्रकृतिवाले अधार्मिक महापापी मनुष्योंको मारकर संसारका भार हरण करना है जिसका विस्तारित वर्णन महाभारतमें पाया जाता है। अग्निपुराणमें भी लिखा है:—

"भूभारमहरत् विष्णुर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्।"

श्रीभगवान् विष्णुने पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भूभारहरण किया था। गीतामें भी श्रीभगवान्ने कहा है:—

"मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।"

मैंने पहले ही पापकर्मके फलरूपसे सबको मार रक्खा है, हे अर्जुन! तुम केवल निमित्तमात्र बनो। पहले ही कहा गया है कि, जय विजय नामक सनकादिकके शापसे भ्रष्ट विष्णुके दो द्वारपाल तृतीय जन्ममें शिशुपाल और दन्तवक्र नामक दैत्यरूपमें उत्पन्न हुए थे। इन दोनोंके अत्याचारसे संसार जब बहुत भाराक्रान्त हो गया तब श्रीभगवान्ने कृष्णावतारमें इनको मारा था। शिशुपालबधके विषयमें श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णन है कि, युधिष्ठिरके राज-सूय यज्ञमें समस्त महर्षियोंने मिलकर श्रीभगवान् कृष्णको प्रथम अर्घ्य देना निश्चय किया परन्तु शिशुपालको कृष्णके साथ शत्रुता होनेके कारण कृष्णसम्मान सहन नहीं हुआ और उसने सभाके बीचमें ही श्रीकृष्णको गाली देना प्रारम्भ कर दिया। इसपर पाण्डव

पक्षके लोगोंके साथ शिशुपालकी लड़ाई होने लगी। यथा-भागवतके दसवें स्कन्धमें—

> तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
> शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहार पततो रिपोः॥
> चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
> पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥
> जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया।
> ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने लड़ाई करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवोंको निवारण करके स्वयं ही तीक्ष्णधार सुदर्शन चक्रके द्वारा शिशुपालका सिर काट दिया। सिर कटते ही शिशुपालके देहसे एक ज्योति निकली और सबके देखते देखते आकाशसे गिरी हुई उल्काकी तरह भगवान् श्रीकृष्णके देहमें प्रवेश कर गई। तीन जन्ममें लगातार द्वेष करते करते उसीमें तन्मय हो जानेके कारण द्वेष भावके द्वारा ही शिशुपालकी मुक्ति हो गई, क्योंकि भाव ही संसारका कारण है। जब शिशुपाल मारा गया तब उनके मित्र शाल्व और सौभ नामक दोनों असुरोंके साथ श्रीकृष्णका घोर संग्राम हुआ और दोनों ही उनके हाथसे मारे गये। अन्तमें इन सभोंका मित्र दन्तवक्र श्रीकृष्णके साथ गदा लेकर लड़ने आया। श्रीकृष्णके ऊपर बड़े भयानक वेगसे गदा मारनेपर धीर श्रीभगवान्ने उसको सहकर दन्तवक्रको गदाके प्रहारसे मार दिया। तदनन्तर भागवतमें लिखा है:—

> ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
> पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप॥

दन्तवक्रके शरीरसे भी सूक्ष्म ज्योति निकलकर सबके देखते हुए जैसा कि शिशुपाल बधके समय हुआ था ऐसा ही श्रीभगवान्के

शरीरमें प्रवेश कर गई। प्रबल द्वेषभावके द्वारा तन्मयता होनेपर दन्तवक्रकी भी मुक्ति इस प्रकारसे हो गई। इस प्रकारसे जय और विजयकी मुक्ति तीन जन्ममें द्वेषके द्वारा हो गई और वे विष्णुलोकको प्राप्त हो गये। इस रीतिसे नाना अंशमें अनेक भावके द्वारा विभक्त अपनी पूर्णावतार लीलाके द्वारा पाण्डव, बलराम आदिकी सहायतासे भूभार हरण, साधुओंकी रक्षा, पापियोंका नाश और युगानुकूल धर्मसंस्थापन करके श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र निज लोकको चले गये। यथा—अग्निपुराणमें—

एवं विष्णुर्भुवो भारमहरद्दानवादिकम्।
धर्मायाधर्मनाशाय निमित्तीकृत्य पाण्डवान्॥
स विप्र-शापव्याजेन मुषलेनाहरत् कुलम्।
यादवानां भारकरं वज्रं राज्येऽभ्यषेचयत्॥
देवादेशात् प्रभासे स देहं त्यक्त्वा स्वयं हरिः।
बलभद्रोऽनन्तमूर्तिः पातालस्वर्गमीयिवान्॥

इस प्रकार श्रीभगवान् विष्णुने दैत्योंसे पीडित पृथिवीका भार हरण, अधर्मका नाश और धर्म संस्थापन पाण्डव आदिको निमित्त बनाकर किया। तदनन्तर ब्रह्मशापके छलसे कुलनाशक मूषलद्वारा समस्त यदुवंशको ध्वंस कराया और प्रभास तीर्थमें जाकर स्वयं भी शरीर त्याग कर दिया। अनन्तावतार बलराम भी शरीर त्याग करके निज धामको चले गये। इस प्रकारसे कृष्णबलरामावतारकी लीला समाप्त हो गई।

अब नीचे एक ही कृष्णावतारके जीवनमें कर्मोपासनाज्ञानमय इतने चमत्कार क्योंकर हो सकते हैं इसका कुछ रहस्य बताया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है—कि कार्यब्रह्मके भीतर अनेक विचित्र चेष्टाएँ उसमें उत्पन्न जीवोंके संस्कारमूलक स्वरूपके अनुकूल ही होती हैं इसलिये जिस समय समष्टि संस्कारको आश्रय करके कोई

अवतार इस कार्यब्रह्ममें प्रकट होंगे तो उस समय भी कार्यब्रह्ममें उत्पन्न प्राकृतिक चेष्टासमूह उस अवतारके स्वरूपानुकूल ही होंगे इसमें सन्देह नहीं हो सकता। और जब इन अवतारोंमें कोई पूर्णावतार प्रकट होंगे तो उनकी लीलाके समय समस्त चेष्टाएँ कार्यब्रह्ममें ठीक उसी प्रकारसे अवश्य संघटित होंगी जो उस पूर्णावतारके स्वरूपके अनुकूल हो। अवतार जब सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान्के सत्, चित्, आनन्दरूपी तीनों भावोंको लेकर होता है तो पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश रहेगा इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। और इसी कारण यह भी निश्चय है कि पूर्णावतारके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर सद्भावके अनुसार कर्मकी पूर्णलीला, चित्भावके अनुसार ज्ञानकी पूर्ण लीला और आनन्दभावके अनुसार उपासना तथा रसकी पूर्ण लीला प्रकट होगी। यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णके लीलाकालमें कार्यब्रह्मके भीतर नाना प्रकारके अनन्त विचित्र कर्म संघठित हुए थे, उपासना भावके अन्तर्गत मुख्यरस और गौणरसरूपसे जो चतुर्दश प्रकारके रसोंका वर्णन पाया जाता है सभीके साधक भक्त उनके लीलाकालमें देखनेमें आये थे, और अनन्त ज्ञानसमुद्रके जितने तरङ्ग हो सकते हैं सभीके प्रवाह उनके विचार तथा कार्य्यसमूहमें प्रकट हुए थे, यही अनन्त विस्तारमयी कर्मोपासना और ज्ञानसम्बन्धी उनकी पूर्णावतार लीलाका रहस्य है। अतः श्रीकृष्णके विषयमें इस प्रकार प्रश्न करना व्यर्थ है कि उन्होंने इस प्रकारसे इतने कर्म क्यों किये, इस प्रकारसे रासलीला आदि क्यों की; क्योंकि पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें कार्य्यब्रह्मके भीतर इस प्रकार जीवोंका उत्पन्न होना और इस प्रकारसे अनन्त कर्म, चतुर्दश रसोंका मधुर विलास, गूढ़ ज्ञानका अपूर्व विलास सभीका होना प्राकृतिक नियम तथा विज्ञानके अनुकूल ही था। बल्कि यदि इस प्रकारसे अनन्त कर्म, अनन्त रस और अनन्त-

ज्ञानका विस्तार उस समय न होता तो उनकी पूर्णावतारकी लीला अधूरी रह जाती और वे पूर्णावतार नहीं कहला सकते। अतः शास्त्रज्ञ गम्भीर पुरुषोंको इस प्रकार सन्देहजालमें फँसना नहीं चाहिये। अब नीचे क्रमशः उनकी कर्मोपासनाज्ञानमयी लीलाओंका पृथक् पृथक् रहस्य वर्णन किया जाता है।

अंशावतारके साथ पूर्णावतारके स्वरूपका भेद निर्णय करते समय पहले ही कहा गया है कि अंशावतारका समस्त कार्य किसी एक भावकी मुख्यता तथा किसी एक भावके लिये पक्षपातको लेकर होता है, परन्तु पूर्णावतारके कार्य्यमें किसी भी भावका पक्षपात नहीं रहता है। इस विचारको लेकर जीवका कर्म, अंशावतारका कर्म और पूर्णावतारका कर्म इन तीनोंमें परस्पर भेदनिर्णय हो सकता है। जीवभावका मूलकारण रागद्वेष होनेसे जीवका अन्तःकरण कदापि रागद्वेषसे शून्य नहीं हो सकता है। जीव साधनाके द्वारा रागद्वेषको जितना ही नष्ट करता जाता है उतना ही जीवभावसे मुक्त होकर शिवभावको प्राप्त होता जाता है। जब तक जीवत्व हो तब तक जीव सभी कार्य्य रागद्वेषके द्वारा ही करता है। आत्माके अनुकूल वस्तुमें रागके द्वारा आसक्त होकर जीव कर्म करता है और आत्माके प्रतिकूल वस्तुमें द्वेषके द्वारा प्रेरित होकर जीव द्वेषमूलक कर्म करता है। यही जीवका रागद्वेषमूलक कार्य्य है। अंशावतारमें इस प्रकार रागद्वेषमूलक कार्य नहीं होता है क्योंकि अवतारकोटि जीवकोटिसे ऊपर है। अंशावतारका कार्य समष्टिकर्मके अनुकूल होता है; अर्थात् जिस देशकालमें अंशावतारका आविर्भाव होता है उस देशकालमें उत्पन्न समष्टिजीवोंके प्रारब्धानुकूल कर्म धर्मके अभ्युदयके लिये अंशावतार करते हैं। इसलिये अंशावतारके कार्यमें स्वार्थमूलक रागद्वेषका सम्बन्ध न होकर जिसकी जड़में परार्थ है ऐसे जीवके कल्याण करनेवाले धर्मभावका सम्बन्ध रहता है। और इस

प्रकार कार्यके द्वारा उस देशकालमें जगत्का कल्याण भी होता है। परन्तु अंशावतारमें अंशकलाका विकाश होनेसे प्रायः किसी भावके अभिनिवेशको लेकर अंशावतार कार्य करते हैं जैसा कि पहले ही रामादि अवतारोंके दृष्टान्त द्वारा समझाया जा चुका है। इस लिये अंशावतारका धर्म्मोन्नतिमूलक सभी कार्य्य भावप्रधान होते हैं। उस भावको चरितार्थ करनेके लिये ज्ञान, उपासना आदिका जितना सम्बन्ध रहना चाहिये अंशावतारके कार्य्यमें ज्ञान और उपासना आदिका उतना ही सम्बन्ध रहता है। उससे अधिक या कम नहीं रहता है। किन्तु पूर्णावतार इन दोनों भावोंसे ही अलग होते हैं। अवतार होनेके कारण जीवकोटिमें अनायास होने वाला रागद्वेष उनमें रह ही नहीं सकता है और पूर्णावतार होनेके कारण अंशावतारकी जो भावमुख्यता है वह भी उनके कार्यमें नहीं रहती है। उनके सभी कार्य भावातीत कोटिके होते हैं और भावातीत कोटिके होनेसे ही उनके कार्य्यमें लौकिक धर्म अधर्म, पाप पुण्य, सत्य मिथ्या, न्याय अन्याय, कर्तव्य अकर्तव्य आदि कोई भी बन्धन या भाव नहीं रहता है। उनके भावातीत स्वरूपमें ये सभी लौकिक द्वंद्वमूलक भाव लय हो जाते हैं। केवल समष्टिजगत्के चिरस्थायी कल्याणको लक्ष्य करके ही इनके सब कार्य्य अनुष्ठित होते हैं और समष्टि जगत्के कल्याणका विचार करके ही उनके कार्यमें धर्माधर्मका स्वरूप निर्णय होता है। जिस कार्यमें व्यक्तिगत धर्मका सम्बन्ध है परन्तु समष्टि जगत्कल्याणका सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार कार्यको पूर्णावतार कदापि नहीं करते हैं। बल्कि व्यक्तिके विचारसे यदि अधर्म भी हो और उस व्यक्तिगत अधर्मके द्वारा समष्टिगत कल्याण या धर्म सिद्ध होता हो तो पूर्णावतार उस कार्यको अवश्य करेंगे और व्यक्तिगत धर्माधर्मके प्रति उपेक्षा करेंगे और इस प्रकार व्यक्तिगत अधर्म या धर्मका संस्कार

पूर्णावतारके केन्द्रको कदापि स्पर्श नहीं करेगा। क्योंकि भावातीत स्वरूपमें लौकिक धर्माधर्म स्पर्श नहीं कर सकता है और उस प्रकार कर्मके साथ उनके अपने अभिमानका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे उस प्रकारके कार्योंका अच्छा बुरा कोई भी संस्कार उनके केन्द्रको स्पर्श नहीं करेगा। वे सब धर्म या अधर्मसे होनेवाले संस्कार समष्टि प्रकृतिका आश्रय करेंगे जिसके कल्याणके लिये अपने अभिमानसे शून्य होकर पूर्णावतारने कार्य किया था। यही सब भावातीत अलौकिक भाव पूर्णावतारके कर्ममें रहते हैं।

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने इसी अलौकिक भावके अनुसार अपना समस्त अवतारकार्य तथा कुरुक्षेत्रयुद्धमें द्रोणवधादि कराया था जिससे उनको कोई भी पाप स्पर्श नहीं किया और धर्मका ही जयलाभ हुआ था।

कर्मके सदृश उपासनाका भी पूर्ण आदर्श श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार कृष्णचन्द्रके जीवनमें पूर्णरूपसे प्रकट हुआ था। यह सिद्धान्त पहले ही निर्णय किया गया है कि श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्दरूप होनेसे पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश होना स्वतःसिद्ध है। इसी कारण श्रीकृष्णके जीवनमें जैसा कि पहले बताया गया है सत्‌भावसे कर्मका और चिद्भावसे ज्ञानका पूर्ण विकाश हुआ था। आनन्दभाव सत् और चित्‌में व्यापक है, इसलिये उनके कर्म और ज्ञानमय जीवनके भीतर आनन्दभावका भी पूर्ण विकाश हुआ था। श्रीभगवान् रसरूप हैं, उनकी यह रसमय आनन्दसत्ता ही संसारमें स्नेह, प्रेम, भक्ति, काम, मोह, श्रद्धा, वात्सल्य, ममता आदि नाना भावसे मायाके द्वारा विकाशको प्राप्त होती है। भक्तिशास्त्रमें इन सब रसोंको चतुर्दश भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा—वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि सप्त गौणरस और दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति आदि

सप्त मुख्यरस। अतः श्रीभगवान्में जब सब रस विद्यमान हैं, तो उनके पूर्णावतारमें इन सभोंकी लीला अवश्य ही प्रकट होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें समस्त मुख्यरस और समस्त गौण रसकी लीला प्रकट हुई थी। उनकी लीलामें सात प्रकार मुख्यरसके द्वारा साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे और सात प्रकारके गौणरसके द्वारा भी साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे। अतः रासलीला, विश्वरूप प्रदर्शन, वस्त्रहरण, बाललीला आदियोंके द्वारा मधुर, अद्भुत, हास्य, वात्सल्य, कान्त, दास्य आदि चतुर्दश रसोंका विकाश होना पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें स्वतःसिद्ध था। अब इनका विकाश पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें कैसे हुआ था उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा— वीररसके लिये भीष्म पितामह, करुणारसके लिये सखीगण, वीभत्स रसके लिये अघासुर, रौद्ररसके लिये इन्द्रदेव, अद्भुतरसके लिये अर्जुन और यशोदा, हास्यरसके लिये गोपाल बालकगण और भयानकरसके लिये कंस, यह सातों उनके जीवनमें गौणरसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार वात्सल्यरसके लिये नन्दयशोदा, दास्यरसके लिये अक्रूर, सख्यरसके लिये अर्जुन और कान्तरस, गुणकीर्तनरस, आत्मनिवेदनरस तथा तन्मयरसके लिये ब्रजगोपिकाओंका माहात्म्य जगत्प्रसिद्ध है। इस प्रकारसे सप्त गौणरस और सप्त मुख्यरसरूपसे सब रसोंका विकाश श्रीभगवान्की लीलासे प्रकट हुआ था। ईश्वरमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंकी पूर्णता है, इसलिये पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रमें भी ऐश्वर्य और माधुर्यकी पूर्णता प्रकट हुई थी। कर्मजीवनमें उनका ऐश्वर्य प्रकट हुआ था। उपासनाजीवनमें उनका माधुर्य प्रकट हुआ था। उसी माधुर्यकलाके विकाशके लिये ही श्रीकृष्णकी वांसुरी है जिसमेंसे समस्त रसोंके राग निकल कर समस्त रसोंके द्वारा उपासनापरायण

भक्तजनोंका मनोमोहन करते थे। संसारमें जीवोंकी चित्तवृत्ति पूर्व कर्मानुसार हुआ करती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कृष्णावतारके समय जितने प्रकारके भक्त कृष्णलीलाक्षेत्ररूप भारतवर्षमें प्रकट हुए थे उनकी चित्तवृत्तियाँ अनेक पूर्वकर्मोंके वैचित्र्यके कारण नाना प्रकारकी हुई थीं। अर्जुनके साथ नरनारायणरूपमें पूर्वजन्मसे सख्यभावका सम्बन्ध था इसलिये अर्जुनने सख्यभावसे ही श्रीभगवान्‌के साथ प्रेम किया। गोपाल बालकोंके साथ देवराज्यमें पूर्व सम्बन्ध रहा था इसलिये उन्होंने हास्य, सख्य आदि रसोंके द्वारा ही श्रीभगवान्‌की भजना की। कंस, शिशुपाल आदिके साथ द्वेष भावका ही पूर्व सम्बन्ध रहा इसलिये उन्होंने द्वेषभावके द्वारा श्रीभगवान्‌में तन्मय होकर वैष्णवकी मुक्ति प्राप्त कर ली। वसुदेव-देवकीके साथ वात्सल्य भावका ही पूर्वकर्मसम्बन्ध रहा इसलिये उन दोनोंने वात्सल्यभावके द्वारा ही श्रीभगवान्‌के साथ प्रेम करके परमा गति प्राप्त की। परम प्रेमवती ब्रजगोपिकाओंके पूर्वकर्मोंके विषयमें पहले ही प्रमाणोंके साथ विस्तारित रूपसे वर्णन किया है कि गोपियाँ सामान्य गोपकन्या नहीं थीं, उनमेंसे राधिका तो साक्षात् मायारूपिणी थी और अन्यान्य गोपियाँ कोई श्रुति थी, कोई मुनि थी, कोई देवी थी। उन सभोंने शरीर-मन-प्राणके द्वारा श्रीभगवान्‌के साथ स्थूल रूपमें मिलनेके लिये ही पूर्व जन्ममें सहस्रों वर्षों तक घोर तपस्या की थी। अतः पूर्व तपस्याके अनुसार उनका कृष्णावतारके समय ब्रजमें जन्म होना और स्थूल सूक्ष्म आदि समस्त शरीरोंके साथ प्रेम करनेका संस्कार रहनेके कारण स्त्री शरीरमें जन्म होना उन सभोंके पूर्वकर्मानुकूल ही था। इसी कारण ब्रजगोपिकाओंने श्रीभगवान् मन्मथको भी मथन करने वाले कृष्णचन्द्रके साथ कान्ताभावसे प्रेम किया था। श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदि ग्रंथोंमें जो कहीं कहीं ऐसा वर्णन देखने आता है कि ब्रज-

गोपिकागण श्रीकृष्णके साथ स्थूल शरीरका सम्बन्ध करना चाहती हैं और उनमें कामका भी आवेश हुआ है सो उनके पूर्व संस्कारके अनुसार अवश्यम्भावी है। क्योंकि यह बात पहले ही कही गई है कि उन मुनियोंने तथा श्रुतियोंने स्थूल शरीरके द्वारा श्रीभगवान्के साथ रमण करनेकी वासनासे ही पूर्व पूर्व जन्मोंमें कठोर तपस्या की थी। अतः श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके अलौकिक, परम सुन्दर मनोरम स्थूल शरीरकी कान्ति देखनेसे उनके हृदयमें अवश्य ही पूर्व जन्मका संस्कार जाग उठेगा और स्थूल शरीरसे उनको आलिङ्गन आदि करनेकी इच्छा उत्पन्न होगी, अनङ्गका भी आवेश हो जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार स्थूलभावसे प्रेमवती गोपियोंका उद्धार श्रीभगवान् कृष्ण-चन्द्रजीने किस प्रकारसे किया था। श्रीभगवान्ने अपने ही मुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

मुझमें मग्नचित्त होकर यदि जीवमें काम भी हो जाय तथापि वह काम वृद्धि प्राप्त हो नहीं सकता है। जिस प्रकार भुने हुए बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं होती है, उस प्रकार मुझमें अर्पित काम भी वासनाको उत्पन्न न करके शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इसी बचनके अनुसार श्रीभगवान् चतुर्दश रसोंमेंसे चाहे किसी रसके द्वारा उनके प्रति प्रेम करनेवाला क्यों न हो, सभीका उद्धार भक्तोंकी प्रकृतिके अनुसार करते थे। जीवकी प्रकृति पर बलात्कारके द्वारा कार्य्य करना पूर्ण पुरुषके स्वरूपके अनुकूल नहीं हो सकता है क्योंकि उसमें प्रकृतिके विरुद्ध होनेके कारण अनिष्ट और अवनतिको आशङ्का रहती है। प्रकृतिको सरल करते हुए उसीके द्वारा ही उसीका नाश करना यथार्थ धर्म और ज्ञानानुकूल कार्य है, इसलिये

ज्ञानी गुरु श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने इसी प्रकारसे पूर्व-कर्मानुकूल प्रकृति तथा प्रवृत्तिको देखकर उसीके अनुसार समस्त भक्तोंका यथोचित उद्धार किया था। श्रीमद्भागवतमें प्रमाण है कि किसी भी भावके द्वारा श्रीभगवान्में आसक्त होनेपर भी श्रीभगवान्के सर्व-शक्तिमान् होनेसे भक्त उसी भावके द्वारा भगवान्में तन्मय हो सकता है और तन्मयता होनेपर मनका लय हो जाता है, जिससे भक्तका भाव ही नष्ट होकर भावातीत भगवान् उनको प्राप्त हो जाते हैं यथा—

> कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
> न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
> योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, मैत्री आदि किसी भावके द्वारा श्रीभगवान्में आसक्त होनेपर उनकी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे भक्त उनमें तन्मय हो जाता है। कामादि किसी मानसिक भावका अस्तित्व तब तक जीवमें रहता है जब तक उन भावोंके उत्पत्ति-स्थान मनका अस्तित्व विद्यमान रहे। परन्तु जिस समय कामादि भावके द्वारा भगवान्में आसक्तचित्त भक्तको श्रीभगवान् अपनी शक्ति द्वारा आकर्षण करके अपनेमें तन्मय कर लेते हैं उस समय तन्मयता द्वारा मनोनाश होनेसे मनमें रहनेवाले कामादि भाव समूल नाशको प्राप्त हो जाते हैं और भक्त समस्त लौकिक वासनाओंसे रहित होकर लोकातीत भगवद्भावमें लवलीन हो मुक्ति पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। यही भाव अनेक प्रकारके पूर्व कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके भक्तोंके द्वारा श्रीकृष्ण भगवान्की उपासनामयी लीलामें प्रकट हुआ था और द्वेष, काम, वात्सल्य आदि सभी भावोंको इसी प्रकारसे श्रीकृष्णभगवान्ने अपनी सर्वशक्तिमत्ताके

प्रभावसे तन्मयभाव द्वारा नाश करके भक्तोंको परमा वैष्णवी गति प्राप्त कराई थी। अचल गम्भीर समुद्रकी तरह उनके धीर पूर्ण-स्वरूपमें सभी भाव चञ्चल नदियोंकी तरह लय प्राप्त हो जाया करते थे, और इसी प्रकारसे गोपिकादि भक्तगण पूर्व कर्मोंसे उत्पन्न समस्त लौकिक चांचल्योंसे रहित होकर परम पदप्राप्त हो गये थे। यही श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें उपासनाकी पूर्णतामयी चतुर्दश रसमयी मधुर लीला है। गौण सप्त रसोंसे मुख्य सप्तरस अधिक मुक्तिप्रद हैं। मुख्य सप्त रसोंमेंसे वात्सल्य, दास्य और सख्य इन तीनों रसोंकी अपेक्षा अन्य चार रस अधिक उदार हैं। क्योंकि वात्सल्यासक्ति आदि तीन रसोंका कान्तासक्तिमें समावेश सहज रीतिसे नहीं हो सकता है। और कान्तासक्तिको प्राप्त करके भक्त ऊपरके गुणकीर्तन, आत्मनिवेदन और तन्मय इन तीन आसक्तियोंको अपनेमें समावेश कर सकता है। इस कारण मधुमय कान्तासक्तिका अधिकार इतना उन्नत बतलाया गया है। कृष्णप्रेममें मतवाली ब्रजगोपिकाओंके प्रेममें जिस प्रकार कान्ता-सक्तिका पूर्ण और मधुर विकाश हुआ था उसी प्रकार उनमें अन्य उन्नत तीन आसक्तियोंका भी पूर्ण विकाश समय समयपर देखनेमें आता था। कृष्णप्रेममें उन्मत्त, स्तब्ध, आत्माराम दशाओंको प्राप्त हुई, कृष्णप्रेमरूप सागरमें डूबकर अपने जीवभावको विस्मृत हुई, कृष्णप्रेम-मतवारी ब्रजनारियोंकी भगवद्‌प्रेममय जीवनी इसी कारण भक्तोंके निकट आदर्शरूप है। और इसी कारण परमहंस संहिता-रूपी श्रीविष्णुभागवत उनके वर्णनसे पूर्ण है। और इसी कारण जब श्रीभगवान् वेदव्यासको अखिल शास्त्रकी रचना करनेपर भी शान्ति न हुई तब उन्होंने ब्रजगोपियोंकी अपार प्रेमकथामयी मधुर लीलासे पूर्ण श्रीविष्णुभागवतकी रचना द्वारा स्थायी शान्तिको प्राप्त किया था; अस्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके लीलाजीवनमें जिस

प्रकार महायज्ञरूपी सर्वलोकहितकर कर्मसमूह ही देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार उनकी मानवी लोला उपासनाके सब अङ्गोंसे पूर्ण दिखाई देती है। कर्मकी पूर्णता जिस प्रकार महायज्ञके साधन और ऐश्वर्यकी पूर्णतासे हुआ करती हैं, उसी प्रकार उपासनाकी पूर्णता भक्तिके चतुर्दश रसोंके विकाश, द्वारा हुआ करती है। श्रीभगवान् आनन्दकन्दकी बाललीला, कौमारलीला, यौवनलीला और प्रौढ़लीला सभी उक्त चतुर्दश रसोंसे पूर्ण हैं। मानों उन्होंने उक्त चतुर्दश रसोंको पूर्ण प्रकट करनेके लिये ही मनुष्य-विग्रह धारण किया था। मानों उन्होंने अपनी मानवी लीलामें जैसा जिसका अधिकार है, उसको उसी रसके रूपमें दर्शन देकर उसको श्रीभगवान्के रससागरमें उन्मज्जन निमज्जन कराया था। मानों मनुष्यजगत्में भक्तिका पूर्ण स्रोत और उपासनाका सर्वाङ्गसुन्दर रहस्य प्रचार करनेके लिये ही उन्होंने अवतार धारण किया था।

कर्म और उपासनाके आदर्शकी तरह ज्ञानका भी पूर्ण विकाश श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी अवतारलीलामें हुआ था इसमें सन्देह नहीं है। पूर्णज्ञानकी पराकाष्ठा संशयदोषयुक्त जड़ताग्रस्त अर्जुनको गीता और अनुगीताके उपदेशच्छलसे संसारकी शिक्षाके लिये उन्होंने जो प्रकट की थी उसकी तुलना संसारमें कहीं नहीं हो सकती है। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये उतने उपदेशोंकी आवश्यकता नहीं थी, जितना उन्होंने गीताके भीतर दिया है। वह उपदेश केवल समस्त संसारके कल्याण साधनके लिये ही था। जिस प्रकार भूभारहरणके लिये कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुन निमित्तमात्र थे, उसी प्रकार संसारके प्रति गीताके उपदेशके लिये भी अर्जुन निमित्त मात्र ही थे। गीताकी पूर्णताके विषयमें क्या कहा जाय? गीता पूर्ण ज्ञानकी गङ्गा है, गीता अमृतरसकी अजस्र धारा है। गीतामें कर्मोपासनाज्ञानकी त्रिधारा गंगा-यमुना-सरस्वतीकी त्रिधाराकी

तरह परस्पर सम्मिलित होकर दिव्य प्रयागकी सृष्टि हुई है जिसमें भावुक भक्त अवगाहन स्नान करके अनन्तानन्दमय निःश्रेयस पदको अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। गीता दुस्तर संसारसागरसे पार उतरनेके लिये अमोघ तरणी है, गीता भावुक जनोंके लिये गम्भीर तरंगमय भावसमुद्र है। गीता कर्मयोग-परायण महात्माको उत्तरायण गति द्वारा सत्यलोकमें लेजानेके लिये दिव्य विमानरूप है, गीता ज्ञानयोगनिष्ठ महात्माको जीवन्मुक्त बनानेके लिये अमृत समुद्ररूप है, गीता संसार मरुभूमिमें जले हुए दुःखित जीवनके लिये मधुर जलसे पूर्ण मरूद्यान (मरुस्थलका बगीचा) है, कितना कहा जाय संसारमें गीताकी अपूर्व माधुरीका वर्णन ही नहीं हो सकता है। संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके प्रकाश द्वारा श्रीभगवान्ने उपनिषदोंका सारतत्त्व प्रकट किया है। कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका विज्ञानांश गीतामें प्रकट है। परन्तु ज्ञान-प्रकाश कार्यमें इतना ही करके वे निवृत्त नहीं हुए थे। उनकी मनुष्य-लीलामय जीवनी ज्ञानके सब विभागोंकी पूर्णतासे पूर्ण थी। यद्यपि समष्टि-रूपसे ज्ञानके सब विभागोंका सारांश और धर्मके सब विभागोंका विज्ञान और वेदके तीनों काण्डोंका रहस्य श्रीगीताजीमें प्रकट है, परन्तु श्रीभगवान्ने पृथक् पृथक् रूपसे ज्ञानके सब विभागोंका प्रकाश अपने आदर्श जीवन द्वारा करके दिखला दिया था। साधारण धर्मके गूढ़ रहस्योंका विज्ञान उन्होंने अर्जुन और महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख प्रकट किया था। महाभारतमें उन प्रकरणोंके पाठ करनेसे विदित होता है, कि धर्मके पूर्ण रहस्यको उन्होंने इस प्रकारसे प्रकट किया है, मानों धर्म-सम्बन्धमें वेदका विज्ञान जगत्के सम्मुख प्रकट करनेके लिये ही उनका अवतार हुआ था। नारी-धर्मका जगत्पवित्रकर रहस्य और नारीधर्मसे अतीत लोकोत्तर प्रेमका विज्ञान श्रीभगवान्ने व्रजलीलाके प्रसङ्गसे गोपिकाओंको

उपदेश दिया था जिसका विवरण श्रीविष्णुभागवतमें देखनेसे धर्मज्ञ मात्र ही समझ सकेंगे कि, नारीधर्मरूपी विशेष धर्मका विज्ञान इस प्रकारसे उन्होंने जगत् कल्याणार्थ प्रकाशित किया है मानों नारीधर्मकी मर्यादा रक्षाके अर्थ ही उनका अवतार हुआ था और मानों नारीधर्मको पवित्र रखकर प्रेमकी अपूर्व माधुरीसे जगत्को तृप्त करनेके अर्थ ही वे अवतीर्ण हुए थे। पुरुष-धर्म-विज्ञान, राजधर्म विज्ञान, समाजनीति विज्ञान, साधारण धर्म विज्ञान, आपद्धर्म विज्ञान, धर्मयुद्ध नीति विज्ञान, वर्णाश्रमधर्म विज्ञान इत्यादि ज्ञानकाण्डके सब अंगोंका पूर्ण विकाश श्रीभगवान्के लीला-विग्रहकी कथाओं और उनके उपदेश समूहके द्वारा महाभारत आदि ग्रन्थोंमें प्रकट है। यही सब श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके ज्ञानमय जीवनका अपूर्व आदर्श रूप है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्के पूर्णावतार होनेके कारण श्रीकृष्णके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञानका अपूर्व सामञ्जस्ययुक्त पूर्ण आदर्श प्रकट हुआ था। यही संक्षेपसे वर्णित अंशावतार श्रीबलराम तथा पूर्णावतार श्रीकृष्णकी अति गूढ़ रहस्यमयी लीला है।

(बुद्धावतार)

दस अवतारोंमेंसे नवम अवतारका नाम बुद्धावतार है। इस अवतारके विषयमें बौद्धशास्त्रोंमें तथा श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि पुराणोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥

बुद्धावतार कलियुगमें हुआ था। कीकट प्रदेशमें (वर्त्तमान गोरखपुर जिलेमें) शुद्धोदनके पुत्ररूपमें बुद्ध भगवान् उत्पन्न हुए थे।

उनके प्रकट होनेमें अध्यात्म कारण यह है। बुद्धावतारके प्रकट

होनेके पूर्वसमयमें समष्टिजगत्में विशेष हलचल उत्पन्न हो गया था। उपासना और ज्ञानहीन कर्मकाण्डका प्रचार तथा दुष्ट उपयोग इतना बढ़ गया था कि, मनुष्य वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे लक्ष लक्ष पशु बलि तथा नरबलि तक प्रदान करने लग गये थे। इस प्रकारसे जीवहत्या अत्यन्त बढ़ जानेपर समष्टिजगत्की धर्मधारामें बाधा उत्पन्न हो गई थीं जो उस समयके देशकालके लिये बहुतही हानिकर तथा आसुरभावकी वृद्धि करनेवाली थी। इसीलिये श्रीभगवान्को बुद्धावतार धारण करके पशुहत्यासे उत्पन्न अधर्मकी धाराको रोकना पड़ा था और असुरभावको नष्ट करके दैवभावको पुष्ट करना पड़ा था। बुद्धदेवने श्रीभगवान्के अवतार होनेपर भी जो वेद और ईश्वर सत्ताके विरोधी धर्मका प्रचार किया था, इसके भी मूलमें वैज्ञानिक तत्त्व है। यह बात पहले ही कही गई है कि, अंशावतारके समस्त कार्य प्रायः थोड़े देशकालके अनुकूल होते हैं और इस प्रकारसे एकदेशी धर्मका स्थापन उनके द्वारा होनेके कारण परवर्त्ती कालमें जाकर अनेक समय उनका किया हुआ धर्म समष्टिजीवोंके लिये कल्याणकर नहीं रहता और यह भी प्रयोजन हो जाता है कि, अन्य कोई अवतार प्रकट होकर उनके चलाये हुए धर्मको तोड़ दे तथा वर्त्तमान देशकालके अनुकूल धर्ममर्यादा संस्थापित करे; बुद्धावतारके समय ठीक ऐसी ही घटना हुई थी। उस समय वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे अनेक हत्या होनेके कारण उस समय समष्टि जगत्में धर्मधाराकी रक्षाके लिये बुद्धदेवको वेद तथा ईश्वरका निषेध करना पड़ा था। क्योंकि जब वेद और ईश्वरके नामसे ही इस प्रकार अत्याचार होने लगा था और उसमें अन्य प्रकारसे प्रतीकार होना असम्भव हो उठा था तो उस विषमय देशकालमें वेद और ईश्वरके उड़ानेके सिवाय और कोई उपाय नहीं था। जिस प्रकार विषके प्राणघातक होनेपर भी

कठिन विकारमय रोगके समय विष भी औषधिका काम करके प्राण-रक्षाका कारण बन जाता है, ठीक बुद्धदेवके अवतार कालमें जीव-हत्यारूपी अति कठिन जातीय रोग उत्पन्न होनेके कारण नास्तिकता रूपी विषप्रयोग बुद्धभगवान्को उस कठिनतम रोगके नाशके लिये करना पड़ा था। उन्होंने इस प्रकार विषप्रयोग द्वारा उस समयके लिये धर्मकी रक्षा कर दी थी और अहिंसा तथा ज्ञानमूलक बौद्ध-धर्मका उपदेश करके जीवोंको हत्यारूपी पापसे हटा लिया था। परन्तु जिस प्रकार विकारके रोगमें विष औषधिका काम करनेपर भी विष तो विष ही है, इसलिये नीरोग अवस्थामें खानेपर प्राण घातक होता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धदेवके द्वारा चलाये हुए वेद तथा ईश्वरके विरोधी बौद्धधर्मने उस समयके लिये धर्मकी रक्षा करदी परन्तु परवर्त्ती कालमें वेदविहीन नास्तिक प्रजाओंमें अवैदिकता तथा आस्तिकताके अभावके कारण बहुत ही पाप बढ़ने लगा। इसलिये पूर्वकथनानुसार उस समय और एक ऐसे अवतारकी आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें हुई कि जिनके द्वारा वेदमर्यादा, सत्ययज्ञमर्यादा तथा ईश्वरभावकी महिमाका प्रचार संसारमें हो। इसलिये श्रीभगवान् शङ्करकी कलासे भगवान् शङ्कराचार्य्यका अवतार हुआ जिन्होंने अपने शांकरी प्रचण्ड प्रतापके प्रभावसे बौद्धोंको भारतवर्षसे निकाल दिया और शांकरी ज्ञानके प्रभावसे वैदिकधर्म, वैदिकयज्ञ तथा ईश्वरभावकी पुनः प्रतिष्ठा कर दी। यही बुद्धावतार तथा शङ्करा-वतारके प्रकट होनेके मूलमें आध्यात्मिक कारण है।

दस अवतारोंमेंसे अन्तिम अवतारका नाम कल्कि अवतार है। इस अवतारका आविर्भाव अभी तक नहीं हुआ है। अभी कलियुगके पांच हजारसे ऊपर वर्ष बीत चुके हैं और पूर्ण कलियुग चार लक्ष बत्तीस हजार वर्षका है। इसलिये अभी कल्कि अवतारके प्रकट होनेमें बहुत विलम्ब है। अभी तक देश काल उनके प्रकट होने

लायक नहीं हुआ है। अभी तक सामयिक धर्म स्थापन तथा पाप-नाशके लिये अनेक भगवद्विभूति, आवेशावतार, ऋषि तथा देवताओंके अवतार आदि द्वारा ही कार्य चल सकेगा। इसलिये अभी तक कल्कि भगवान्के आनेका समय तथा प्रयोजन उपस्थित नहीं हुआ है। वह समय कब आवेगा और उस समयका देशकाल कैसा कैसा होगा सो श्रीमद्भागवतादिमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि जब संसारमें प्रबलरूपसे पाप छा जायगा, मनुष्य धर्मच्युत, महापापग्रस्त, राजा प्रजापीड़क म्लेच्छाचारसम्पन्न होंगे और वसुन्धरा पापके गुरुभारसे अति पीड़ित होगी तभी श्रीभगवान् कल्कि अवतार धारण करके म्लेच्छनिधन, पापियोंका नाश तथा पुण्यात्माओंका परित्राण करेंगे। उनके आनेके बादही पुनः सत्ययुग प्रकट होकर सर्वत्र धर्मका विस्तार होगा यही संक्षेपसे वर्णित अंशावतार तथा पूर्णावतारके चरित्र हैं।

(विशेष-अविशेष-नित्यावार)

अंशावतार और पूर्णावतारके अतिरिक्त और भी तीन प्रकारके अवतार होते हैं जैसा कि पहिले दैवी मीमांसाके सूत्र द्वारा बताया गया है—

"निमित्ताद् विशेषाविशेषौ।"
"अन्तराविर्भाव नित्यत्वम्।"

किसी निमित्तसे विशेषावतार और अविशेषावतार होते हैं। अन्तःकरणमें श्रीभगवान्का नित्यावतार होता है। विशेषावतारको आवेशावतार भी कहते हैं। इसके लिये पद्मपुराणसे प्रमाण मिलता है। यथा—

"आविष्टोऽभूत् कुमारेषू नारदे च हरिर्विभुः,,
"आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः"

भगवान् हरि सनत्कुमारादि मुनिगण तथा नारदमें अविष्ट

हुए थे। और पृथुमें भी आविष्ट हुए थे। अतः सनकादि, नारद और पृथु आवेशावतार हुए। वे ही पुरुष आवेषावतार कहलाते हैं जिनमें कभी कभी भगवद्भावका आवेश हो जाता है। अन्य समय वे प्राकृतजनोंकी तरह रहते हैं। परन्तु आवेश होनेपर अनेक अलौकिक भगवत्कार्य कर सकते हैं। वङ्गदेशके अन्तर्गत नवद्वीपमें उत्पन्न चैतन्यदेव भी इस प्रकार आवेशावतार थे, जो सकल समय भगवद्भक्तिमें मग्न रहनेपर भी कभी कभी भगवत्-भावके आवेश द्वारा आविष्ट होकर अवतारकी तरह अलौकिक जगत्कल्याणकारी अनेक कार्य कर दिया करते थे। यही शास्त्र-कथित विशेषावतार या आवेशावतारका रहस्य है। श्रीभगवान्का अविशेषावतार श्रीगुरुमें दीक्षा देते समय प्रकट होता है। आर्य-शास्त्रमें प्रतिपादित किया गया है कि, यथार्थमें गुरु श्रीभगवान् ही हैं। परन्तु भगवान् निराकार होनेसे एकाएक मनुष्य उनसे साक्षात्-रूपसे सम्बन्ध नहीं कर सकता है। इस लिये जिस मनुष्यरूपी केन्द्र द्वारा श्रीभगवान् अपनी ज्ञानशक्तिको प्रकट करके शिष्यको अपनी ओर आकर्षण करते हैं वही केन्द्र लौकिक जगत्में गुरु कहलाता है। इससे यह सिद्धान्त अनायास ही निश्चय होता है कि, जिस समय श्रीभगवान्की ज्ञानशक्ति किसी मनुष्यरूपी केन्द्र-द्वारा दीक्षारूपमें शिष्यके कल्याणके लिये प्रकट होगी उस समय उस केन्द्रमें भगवत्-भावका अवश्य ही विकाश होगा। यही जो गुरुरूपी केन्द्रमें दीक्षा देते समय भगवद्-भावका विकाश है उसी-को अविशेषावतार कहते हैं। इस प्रकारसे विशेष और अविशेष दोनों प्रकारके अवतार द्वारा संसारमें अधर्मका नाश और धर्मका उन्नतिसाधन होता है। इसके सिवाय अन्तःकरणमें श्रीभगवान्का नित्यावतार होता है। सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, ज्ञानमय, आनन्द-मय परमात्मा संसारके सर्वत्र विराजमान होनेके कारण प्रत्येक

जीवके हृदयासनमें उनका स्थान है। उसी हृदयासनमें विराजमान होकर श्रीभगवान् सदा ही जीवको पापकर्मसे रोकते हैं, पुण्यकी ओर चित्तवृत्तिको प्रेरित करते हैं, पाप करनेपर भी अनुतापकी अग्निमें पापसंस्कारको भस्म कर देते हैं और जीवको सदा ही अधोगतिसे सावधान बना रखते हैं। यही अन्तःकरणमें उनका नित्यावतार है जिसके कारण पापसे सदा ही जीवको संकोच रहता है। घट घटमें विराजमान परमात्माके नित्यावतार द्वारा समष्टि-रूपसे इस प्रकार समस्त जगत्में धर्मकी वृद्धि होती रहती है जिससे समष्टि प्रकृतिकी सदा ही ऊर्द्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार अंशावतार और पूर्णावतार कलाभेदसे इस अध्यायमें कहे गये हैं और अवतारोंके जीवनचरित्रोंके द्वारा कलाओंके विकाशका स्वरूप दिखाया गया है, उसी शैलीके अनुसार कलाकी क्रमाभिव्यक्ति और षोडशकलाका पूर्ण विकाश इन ऊपरकथित अवतारोंमें भी हुआ करता है। आवेशावतार यद्यपि आविष्ट होकर उस समयके लिये अपनी आवेशावस्थामें विशेष विशेष भगवत्कार्य्यके करनेमें समर्थ होता है परन्तु आविष्ट केन्द्रकी छुटाई बड़ाईके अनुसार श्रीभगवान्-के कलाविकाशका भी तारतम्य हुआ करता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, चैतन्य महाप्रभुमें आवेशकी कलाके साथ देवर्षि नारदकी आवेशकलाका अवश्य ही अन्तर होगा इसमें सन्देह ही क्या? देवर्षि नारदमें श्रीभगवान् जिस समय आवेशरूपमें प्रकट होंगे उस समय षोड़शकलामें भी प्रकट हो सकते हैं। अविशेषा-वतार श्रीगुरुदेवमें भी यह विज्ञान समझा जा सकता है। यद्यपि शिष्यके लिये उसके गुरु जब अपनी अन्तर्मुख वृत्तिको धारण करके उपदेश देंगे तो उस समयके लिये प्रत्येक गुरुमें ही भगवत्कलाका विकाश होना सम्भव है। परन्तु यदि शिष्यकी श्रद्धा और अधिकार सर्वोत्तम हो और जिस महापुरुषमें गुरुपदका अधि-

कार प्रकट हुआ है, उस महापुरुषका अन्तःकरण योगयुक्त हो तो ऐसे गुरुदेवके अन्तःकरणमें भी श्रीभगवान्‌की पूर्ण कलाका आविर्भाव होना निश्चित ही है। नित्यावतारमें भी यही सिद्धान्त समझा जाय। प्रत्येक मनुष्यमें सत्कर्ममें प्रवृत्ति और असत्कर्मकी ओरसे अप्रवृत्तिरूपी रुकावटकी जो चेष्टा है वह मनुष्यान्तःकरणमें भगवान्‌का नित्यावतार है। सर्वशक्तिमान्, सर्व-व्यापक भगवान् प्रत्येक जीवकेन्द्रमें विद्याशक्तिकी सहायतासे अव-तीर्ण होकर उसको सबसे प्रथम पापसे बचाकर पुण्यमार्ग दिखाया करते हैं। उस समय यदि वह जीव भगवदिङ्गितको न माने तो अवश्य ही पापमें फँसा करता है। यद्यपि इस प्रकारसे भगवान्‌का नित्यावतार होना स्वाभाविक है परन्तु यदि वह जीव—जिसके अन्तःकरणमें इस प्रकारसे नित्यावतारका प्राकट्य होगा—उन्नत हो तो नित्यावतारकी कला भी अधिक प्रकट होगी। उदाहरणरूपसे समझा जा सकता है कि साधारण जीवसे शकुनज्ञ मनुष्यमें अधिक कला प्रकट होगी, उससे भक्तमें अधिक कला प्रकट होगी और पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्तमें भगवान्‌की पूर्ण कलाका आविर्भाव समय विशेषपर हो सकेगा। यही षोड़शकलासम्पूर्ण सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌के कलाभेदानुसार पञ्चप्रकारके अवतारोंका तत्त्व है। श्रीभगवत्‌शक्तिके विकाशकेन्द्र होनेसे वे सभी अवतार पूज्य हैं और इसीलिये 'अवतारोपासना' नवधाविभक्त उपासनाका एक प्रधान अङ्ग है।

ऋषि-देवता-पितृ-उपासना।

उपासनाके नौ अङ्गोंमेंसे अवतारोपासनाके बाद ही ऋषि-देव-पितृ-उपासनाका स्थान है। इस लिये ऋषि-देव-पितरोंका तत्त्व तथा उनकी उपासनाके विषयमें इस अध्यायमें कुछ कहा जायगा।

जिस प्रकार एक साम्राज्यकी सुव्यवस्थाके लिये सम्राट्के स्थापित किये हुए अनेक अनुशासन-विभाग हुआ करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डके तीन अनुशासन-विभाग होते हैं; उनको अध्यात्म-विभाग, अधिदैव-विभाग और अधिभूत-विभाग कहते हैं। इन्हीं तीनों विभागोंके सञ्चालकोंको ऋषि, देवता और पितृ कहते हैं। वास्तवमें ये तीनों ही प्रकारान्तरसे देवता हैं। अध्यात्मज्ञान-राज्यके सञ्चालक ऋषिगण, अधिदैव कर्मराज्यके सञ्चालक देवता-गण और अधिभूत स्थूल राज्यके सञ्चालक पितृगण हैं। मनुष्य केवल स्थूलराज्यपर आधिपत्य कर सकता है। परन्तु जो स्थूल और सूक्ष्मराज्य—दोनों पर समान-रूपसे आधिपत्य कर सके वही देवता है। ऋषि, देवता और पितृमें यही दैवीशक्ति विद्यमान है। इसी कारण वे दैवी जगत्के तीन विभागोंके चालक हैं। अब इन तीनोंके विषयमें पृथक् पृथक् वर्णन किये जाते हैं।

प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्ति ही उक्त ब्रह्माण्डके सगुण ईश्वर हैं; इस कारण ये तीनों, देवता होनेपर भी, अन्यान्य देवताओंकी श्रेणीमें इनकी गणना नहीं हो सकती। प्रधान देवता तैंतीस हैं। यथा—आठ वसु, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र और इन्द्र प्रजापति।

यजुर्वेद (अ० १४ मं० २०) में भीः—

"वसवो देवताः रुद्रा देवताः ।
आदित्या देवताः त्रयस्त्रिंशाः सुराः ॥"

आदि कहकर तैंतीस देवताओंका वर्णन किया गया है। इनके नाम यथा महाभारतमेंः—

"भगोऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा ।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः ॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥"

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—ये द्वादश आदित्य हैं। वसुओंके नाम महाभारतमेंः—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः ॥

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास–ये अष्टवसु हैं। एकादश रुद्रके नाम श्रीमद्भागवतमें—

"अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः ।
जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः ॥
वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्रा इमे स्मृताः ॥"

अजैकपाद, अहिर्ब्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर—ये एकादश रुद्र हैं।

येही तैंतीस देवता प्रत्येक ब्रह्माण्डके रक्षकरूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं; वे सब देवता सात श्रेणी और चार वर्णमें विभक्त हैं।

देवताओंके चार वर्ण—यथा—महाभारतके शान्तिपर्वमेंः—

"आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा ।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ ॥

स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः ।
इत्येतत् सर्वदेवानाँ चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम् ॥"

आदित्यगण क्षत्रियदेवता, मरुद्गण वैश्यदेवता, अश्विनीगण शूद्र देवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मणदेवता—इस प्रकारसे देवताओंके चार वर्ण हैं ।

शास्त्रोंमें कहीं कहीं तैंतीस करोड़ देवता हैं ऐसा भी कहा गया है । 'प्रत्येक ब्रह्माण्डमें देवताओंकी संख्या क्या तैंतीस करोड़ ही नियमित है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें सिद्धान्त यही हो सकता है कि विज्ञान्वित् शास्त्रकारोंने प्रकृतिके परिणामके क्रमके अनुसार और कर्मोंकी गतिके साधारण भेदके अनुसार देवताओंकी संख्या अधिक से अधिक तैंतीस करोड़का होना अनुमान किया है । 'करोड़' शब्द 'अनन्त' का भी वाचक है ।

देवतागण नित्य और नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं, जिनके विषयमें दैवीमीमाँसादर्शनमें इस प्रकार कहा है ।

"साक्षात्परोक्षशक्तिभिर्नित्यनैमित्तिके"

साक्षात् और परोक्षशक्तिके अनुसार नित्य देवता और नैमित्तिक देवता होते हैं ।

नित्य देवता वे हैं, जिनका पद नित्य स्थायी है । वसुपद, रुद्र-पद, आदित्यपद, इन्द्रपद, वरुणपद आदि पद नित्य हैं । यह पद-समूह केवल अपने ब्रह्माण्डमें ही नित्यस्थायी नहीं है; किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें इन पदोंका नित्यरूपसे रहना अवश्य सम्भव है । ये पद नित्य होते हैं तथा कल्प और मन्वन्तरादिभेदसे इनमें योग्य व्यक्तियाँ जाकर अधिकार प्राप्त करती हैं । और वे ही देवता क्रमशः उन्नत अधिकारोंको भी प्राप्त करते रहते हैं । कभी कभी इन पदधारी देवताओंका पतन भी होता है । जैसा महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है:—

"हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियञ्च॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम्॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥"

मनके प्रिय सुखोंको त्याग करके, सत्य धर्म, दम, तितिक्षा और समताके आश्रयसे इन्द्रको मनुष्यशरीरसे इन्द्रपद प्राप्त हुआ था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय और दमके द्वारा इन्द्रने त्रिलोकका ऐश्वर्य प्राप्त किया था। नारायणोपनिषद्में लिखा हैः—

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः"

"यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः" (सा. वे. ३।१।३।२)

यज्ञसे ही देवताओंको देवत्वपद मिला है और शतक्रतु होनेसे ही इन्द्रपद इन्द्रको प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद १।१११।१ में लिखा हैः—

"तक्षन् रथं सुकृतं विद्म नापसस्तक्षन्। हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।"

आंगिरसके तीन पुत्र रथनिर्माणके कौशलसे देवताओंको तुष्ट कर देवत्वको प्राप्त हो गये थे।

पुनः महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

"नहुषो हि महाराज! राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्।
स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः।
तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्।
यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम्॥

तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते।
इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥"

राजर्षि नहुषने पुण्यकर्मके फलसे इन्द्रत्व प्राप्त किया था। इन्द्रत्व पानेपर उनको अत्यन्त अहंकार हो गया था और उन्होंने ऋषियोंसे अपना शिविका (पालकी) वाहन प्रारम्भ कर दिया था। एक बार अगस्त्य ऋषि शिविका बहनकर रहे थे, नहुषने उनके सिरपर लात मार दिया। इसपर भृगु ऋषिने नहुषको अभिसम्पात (शाप) दिया कि सर्प हो जाओ और नहुष सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा।

नैमित्तिक देवता वे कहाते हैं, जिनका पद किसी निमित्तसे सृष्ट किया जाता है। और उस निमित्तके नष्ट होनेपर वह पद भी उठ जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणके लिये कुछ प्रमाणोंका विचार किया जाता है। प्रथम उदाहरण यह है कि ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदिका पद। ग्रामके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक ग्राम नष्ट न हो जाय तबतक ग्राम-देवताका पद बना रहता है। एक वनस्थलीके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक उस स्थानमें वनका अधिकार पूर्णरूपसे बना रहता है तबतक वनदेवताका पद बना रहता है और उसके बाद वह पद नष्ट हो जाता है। गृहदेवताको भी ऐसा ही समझना उचित है। एक गृहके प्रस्तुत होनेपर यदि गृहपति उस गृहमें शास्त्र-विधिके अनुसार गृहदेवताकी स्थापना करें तो उस गृहदेवताके पीठकी स्थापनाके समयसे लेकर जबतक वह गृह बना रहता है और जबतक गृहस्थकी श्रद्धा पीठपर बनी रहती है तबतक उस गृहदेवताका पद बना रहता है और तदनन्तर वह पद नष्ट हो जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणमें और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चार प्रकारके भूतोंकी जो अलग श्रेणियाँ है, यथा—

जरायुजमें गो, महिष, अश्व, सिंह, वानरादि, अण्डजमें कपोत, मयुर, सर्प आदि, स्वेदजमें जीवरक्षाके विशेष विशेष कृमि तथा रोगोत्पादक विशेष विशेष कृमि और उद्भिज्जमें अश्वत्थ, वट, बिल्व आदि इस प्रकारसे चार प्रकारके जीवोंमें जिस ब्रह्माण्डमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं अथवा जिस देशमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं, उनकी रक्षाके लिये एक एक स्वतन्त्र स्वतन्त्र देवताका पद दिया जाता है। और जब तक वे श्रेणियाँ बनी रहती हैं तबतक वह देवताका पद भी बना रहता है। उसके अन्यथा होनेपर वह पद उठा दिया जाता है। नैमित्तिक देवताके सम्बन्धमें और भी उदाहरण दिया जाता है। स्थावर पदार्थ—पर्वत, नदी आदि—तथा नाना प्रकारके धातु और उपधातु आदि खनिज पदार्थोंके चालक और रक्षक स्वतन्त्र स्वतन्त्र देवता होते हैं। वे पद भी नैमित्तिक हैं। जिस ब्रह्माण्डमें अथवा जिस देशविशेषमें जबतक ये स्थावर पदार्थ अपनी पूर्ण सत्तामें विद्यमान रहते हैं तबतक वे नैमित्तिक देवताओंके पद भी विद्यमान रहते हैं और उसके अन्यथा होने पर वह पद उठा दिये जाते हैं। यही सब नैमित्तिक देवताओंके उदाहरण हैं।

पितृगण भी एक प्रकारके देवता हैं, उनका वासस्थान पितृलोक है। उनका कार्य्य आधिभौतिक जगत्का संरक्षण, आधिभौतिक जगत्के परमाणुओंका नियोजन और आधिभौतिक जगत्की क्रियाओंका यथावत् परिचालन करना है। संसारमें ऋतुओंके ठीक ठीक होनेसे ही आधिभौतिक शरीरसम्बन्धीय परमाणु तथा शक्तियोंका सुप्रबन्ध रहता है। अतः ऋतुओं तककी सम्हाल करनेमें पितरोंका अधिकार माना गया है। यथा वेदमें:—

"ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, सोमपाः पितरस्तृप्य-

न्ताम्, हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्, आज्यपाः पितरस्तृप्य-
न्ताम्" इत्यादि।

"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरो शोषाय
नमो वः पितरो ऋतवे, नमो वः पितरो जीवाय
नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय।"

सोमसद् नामक नित्य पितृगण तृप्त होवें, अग्निष्वात्ता नामक पितृगण तृप्त होवें, बर्हिषद् नामक पितृगण तृप्त होवें, सोमपा नामक पितृगण तृप्त होवें, हविर्भुक् नामक पितृगण तृप्त होवें, आज्यपा नामक पितृगण तृप्त होवें, इत्यादि। वर्षाधिपति पितरोंको नमस्कार, ग्रीष्माधिपति पितरोंको नमस्कार, ऋतुके अधिपति पितरोंको नमस्कार, इत्यादि।

ऋतुओंमें विपर्य्यय न होने देना अथवा मनुष्योंके कर्म्मोंके उपयोगी ऋतुओंके स्वरूपमें विपर्य्यय करना, संसारमें स्वास्थ्य-विधान करना, संसारके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, मनुष्यका स्थूल शरीर मातृगर्भमें उत्पन्न करना, मनुष्यके स्थूल शरीरका स्वास्थ्य-विधान करना, मनुष्यके शरीरके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय करना इत्यादि सब कार्य्य पितृगणको प्रभावसे हुआ करते हैं। सुतरां, पितृगण ही जीवके कर्मभोगके उपयोगी उसके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट अधिकारके अनुसार स्थूल शरीर बनानेमें जैसी आवश्यकता हो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट तत्त्वोंको पूर्वकथित रीतिसे चन्द्रलोक अर्थात् पितृलोकसे पर्जन्यादिके द्वारा सुसज्जित करते हुए यथाक्रम मातृपितृशरीरमें होकर रजोवीर्य्यमें परिणत करते हुए मातृगर्भमें पहुँचा देते हैं। यही पितृगणके द्वारा मनुष्यके स्थूल शरीरकी गतिका वैज्ञानिक रहस्य है। दूसरी ओर जिस प्रकार पितृगण प्रत्येक जीवके कर्मा-नुसार तथा उस जीवके मातापिताके कर्मानुसार जैसी सन्ततिके उपयोगी स्थूल शरीरका मसाला मातृगर्भमें इकट्ठा करते हैं वैसे ही

यथायोग्य आत्मा अपने सूक्ष्मशरीरके सहित अन्य सूक्ष्म लोकोंसे देवताओंकी सहायताके द्वारा मातृगर्भमें यथासमय पहुँचाया जाता है। यही जीवके सूक्ष्म शरीरका जन्मान्तर होनेके सम्बन्धका वैज्ञानिक रहस्य है। इन दोनों कार्य्योंमेंसे एक कार्य्य पितरोंका है दूसरा देवताओंका है।

मनुष्योंकी जीवितावस्थामें मनुष्योंमें जो कुछ ज्ञानोन्नति और ज्ञानकी अवनति होगी सो ऋषियोंकी कृपा और अकृपाका फल है। नित्य ऋषिगण भी एक प्रकारके देवता हैं। वर्णगुरु ब्राह्मणोंमें आध्यात्मिक उन्नतिका क्रमविकाश, द्विजोंमें यज्ञोपवीत संस्कारके अनन्तर प्रत्येक संस्कार द्वारा ज्ञानोन्नतिके उन्नततर अधिकारकी प्राप्ति और आश्रमगुरु संन्यासियोंमें आत्मज्ञानका क्रमविकाश यह सब ऋषियोंकी कृपाका ही फल है। अपनी अपनी जातिमें सुविधा-असुविधाकी प्राप्ति, आयुकी प्राप्ति, सत्-असत् भोगकी प्राप्ति और भोगके सम्बन्धसे यावत् ऐश्वर्य्योंकी प्राप्ति आदि सब विषय देवताओंके द्वारा मनुष्यको प्राप्त होते हैं। शरीरका स्वास्थ्य, शरीरका अस्वास्थ्य, शरीरका रोगग्रस्त होना और शरीरका नैरोग्य होना, सन्ततिकी प्राप्ति आदि सब विषय पितरोंके सम्बन्धसे मनुष्यकी जीवित अवस्थामें उसे प्राप्त होते हैं। मृत्युके समय सत्यलोकगामी ज्ञानी पुरुषको उन्नत ऋषियोंकी सहायता प्राप्त होती है। पुण्यात्मा नरनारियोंकी स्वर्गादि उन्नत लोकोंमें गति देवताओंकी सहायतासे होती है। मध्यम अधिकारीको पितृलोकमें जाते समय नित्य पितरोंकी सहायता प्राप्त होती है। यहाँ तक कि पापी जीवोंको नरकमें जाते समय निम्नश्रेणीके देवतागण ही जीवको वहां पहुंचाया करते हैं। शास्त्रोक्त यमदूतगण भी एक श्रेणीके देवता हैं और प्रेतलोकके प्रबन्धकर्त्ता वेतालादिक भी निम्न श्रेणीके देवता ही हैं।

अन्नमय कोषके संकोच और विकाश एवं दृश्य और अदृश्य-रूपमें परिणत करनेकी शक्ति, प्राणमय कोषको स्थूल और सूक्ष्म जगत्में व्यापक करनेकी शक्ति, मनोमय कोष द्वारा स्थूल और सूक्ष्म जगत् पर आधिपत्य करनेकी शक्ति विज्ञानमय कोषकी उन्नतिकी प्राप्ति करते हुए उसको समष्टि और व्यष्टि रूपमें कार्य्यकारी करनेकी शक्ति और आनन्दमय कोषके उन्नत अधिकार दूसरोंको प्राप्त करा देनेकी शक्ति—ये सब देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकार हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्त्तिमें ये सब अधिकार तथा अष्ट सिद्धियोंके पूर्ण अधिकार स्वतः ही विद्यमान रहते हैं। ऋषियोंमें प्रायः आनन्दमय कोष और विज्ञानमय कोषके अधिकारोंकी पूर्णता होती है और शेष तीन अधिकारोंकी गौणता रहती है। सत्यलोकमें स्थित ऋषियोंमें पाँचों अधिकारोंकी पूर्णता रहती है। अन्य उन्नत देवताओंमें प्रथम तीन अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषके अधिकारोंकी पूर्णता और शेष दो अधिकारोंकी गौणता रहती है। मध्यम श्रेणीके देवताओंमें प्रथम तीन श्रेणीके अधिकार ही प्रकट रहते हैं अर्थात् उनमें केवल पूर्वकथित अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषके अधिकार ही प्रकट रहते हैं। अधमश्रेणीके देवताओंमें अन्नमय कोष और प्राणमय कोषके अधिकारोंकी तीव्रता रहती है। वेतालादिक क्षुद्र देवता और अनेक नैमित्तिक देवता इसी श्रेणीके समझे जा सकते हैं। स्वर्ग, नरक और पितृलोकमें पहुँचे हुए जीव भी दैवीशक्तिसम्पन्न हो जाते हैं; क्योंकि उनमें भी ये शक्तियाँ कुछ कुछ रहती हैं इन सूक्ष्म लोकोंमें पहुँचे हुए जीव प्राणमय कोष और मनोमय कोषके संकोच-विकाश करनेमें समर्थ होते हैं। केवल अन्नमय कोषपर उनका पूर्ण आधिपत्य नहीं रहता। यही दैवीशक्तिकी प्राप्तिका कारण है कि परलोकगामी आत्माएँ श्राद्धादि कर्मोंसे तृप्ति लाभ करते हैं और अपने आत्मीय स्वजनोंकी कल्याणवासना करनेमें

भी तत्पर रहते हैं। प्रेतलोकप्राप्त जीव भी दैवीशक्ति सम्पन्न होते हैं, परन्तु उनकी दशा कुछ विचित्र है। इस कारण शास्त्रोंमें कहा हैः—

"भूतोऽमी देवयोनयः।"

भूत भी देवयोनिके अन्तर्गत हैं। प्रेतोंको भूलोकके साथ ही संश्लिष्ट रहते हुए भी उनको अपने अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोषोंके कुछ कुछ संकोच-विकाश करनेकी शक्ति प्राप्त रहती है। इसी कारण प्रेतगण व्यक्तिविशेषके सम्मुख अपना स्थूल रूप धारण कर सकते हैं। इसी कारण वे अलक्षित रहकर भी प्राणमय कोषकी सहायतासे अनेक स्थूल पदार्थोंको गिराने और उठानेके कार्य्य कर सकते हैं और इसी कारण प्रेतगण दुर्बलचित्त नरनारियों पर आविष्ट हो सकते हैं। यह तीनों उदाहरण प्रेतके तीनों कोषके संकोच-विकाशकी शक्तिके समझने योग्य हैं। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि केवल मनुष्योंके निकट कुछ दैवी शक्तियोंके विचारसे प्रेत देवयोनिमें परिगणित होते हैं, नहीं तो वास्तवमें वे देवताओंके लिये अस्पृश्य हैं और न प्रेतोंकी गति देवलोकके किसी अंशमें भी हो सकती है। हाँ, उनके चालक और शासक निम्न श्रेणीके देवता हुआ करते हैं।

ऋषि, देवता और पितर—ये तीनों श्रेणियाँ श्रीभगवान्‌के कार्य्य-कर्त्ता प्रतिनिधि देवता ही हैं। यद्यपि ऋषियोंमें उन्नत कोषोंके अधिकार प्रधानरूपसे रहते हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है, उसी प्रकार देवताओंमें और नित्य पितरोंमें भी प्रथम तीन कोषोंके अधिकार प्रधान रूपसे विद्यमान रहते हैं। भेद इतना ही है कि ऋषियोंमें अध्यात्मशक्तिकी प्रधानता, देवताओंमें अधिदैवशक्तिकी प्रधानता और पितरोंमें अधिभूतशक्तिकी प्रधानता रहती है। इसी प्रकारसे इनमें ऐसी सिद्धियोंका भी तारतम्य रहता है। नित्य

पितरोंके एकत्रिंशत् गण और चार वर्णके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मार्कण्डेय पुराण ९६ अध्यायमें—

विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः।
भूतिदो भूतिकृत् भूतिः पितृणां ये गणा नव॥
कल्याणः कल्याणकर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः।
कल्यताहेतुरवघः षडिमे ते गणाः स्मृताः॥
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा।
विश्वपाता तथा धाता सप्तैवैते तथा गणाः॥
महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः।
गणाः पञ्च तथैवैते पितृणां पापनाशनाः॥
सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः।
पितृणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम्॥
एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम्॥

विश्व, विश्वभुक्, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत् और भूति नामक पितरोंके नवविध गण, कल्याण, कल्याणकर्त्ता, कल्य, कल्यतराश्रय, कल्यताहेतु और अवघ नामक षड्विध पितरोंके गण, वर, वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता और धाता नामक पितरोंके सप्तविध गण, महान्, महात्मा, महित, महिमावान् और महाबल नामक पितरोंके पञ्चविध गण और सुखद, धनद, धर्मद, तथा भूतिद नामक पितरोंके चतुर्विध गण यही एकत्रिंशत् पितृगण, जो जगत्में व्याप्त हैं, तृप्त होकर सबका कल्याण करें। पितरोंके चार वर्णोंके विषयमें महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है:—

"सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः॥

सोमपा नामक पितृगण ब्राह्मणजातीय हैं, हविर्भुक नामक पितृ-

गण क्षत्रियजातीय हैं, आज्यप नामक पितृगण वैश्यजाति हैं और सुकालीन नामक पितृगण शूद्रजातीय हैं।

पितरोंका कार्य्य जिस प्रकार आधिभौतिक सृष्टिकी रक्षा आदिके सम्बन्धसे माना गया है उसी प्रकार ज्ञानमयी सृष्टिके संरक्षणका पूर्ण भार ऋषियोंपर रक्खा गया है। नित्य पितरों और नित्य देवताओंके सदृश नित्य ऋषियोंका पद भी प्रत्येक ब्रह्माण्डमें नियत ही रहता है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि मन्वन्तर और कल्पादिके भेदसे जिस प्रकार अनेक पितर और अनेक देवताके पदधारी व्यक्तियोंका परिवर्तन होता है उसी प्रकार ऋषियोंके पदधारी व्यक्तियोंका भी परिवर्तन यथानियम हुआ करता है। कार्य्यशैलीके विचारसे इतना अवश्य जानने योग्य है कि पितरोंके अवतार नहीं होते। जब पितरोंको अपना कोई विशेष कार्य्य सुसम्पन्न करना होता है तो, मातापिताके शरीरमें आविर्भूत होकर उन्हींको अपना अवतार बनाकर पितृगण अपना विशेष कार्य्य सुसम्पन्न करते हैं। परन्तु भगवदवतारकी नाईं देवताओं और ऋषियोंके सब प्रकारके अवतार हुआ करते हैं। ऋषियोंके विभाग सात प्रकारके हैं। यथा—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि और काण्डर्षि; व्यासादि महर्षि हैं, भेलादि परमर्षि हैं, कण्वादि देवर्षि हैं, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि हैं, सुश्रुतादि श्रुतर्षि हैं, ऋतुपर्णादि राजर्षि हैं और जैमिनि आदि काण्डर्षि हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें पृथक् पृथक् सप्तर्षि होते हैं। यथाः—स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ। स्वारोचिष मन्वन्तरमें—ऊर्ज, स्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर और चार्ववीर। उत्तम मन्वन्तरमें—प्रमदादि सप्त वशिष्ठके पुत्रगण। तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, बलक और पीरव। रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्द्ध्ववाहु, वेदवाहु, सुधामा, पर्जन्य और

वशिष्ठ। चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु। वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें—अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज और कश्यप। सावर्णिक मन्वन्तरमें गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृङ्ग और व्यास। दक्षसावर्णिक मन्वन्तरमें—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल और हव्यवाहन। ब्रह्म-सावर्णिक मन्वन्तरमें—आप, भूति, हविष्मान्, सुकृति, सत्य, नाभाग और अप्रतिम। धर्मसावर्णिक मन्वन्तरमें—हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋष्टि, अरुणि, निश्चर, अनघ और विष्टि। रुद्रसावर्णिक मन्वन्तरमें—द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति। देवसावर्णिक मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प्य। इन्द्रसावर्णिक मन्वन्तरमें—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित। ये सब नित्य ऋषिगण हैं। इस संसारमें ऋषियोंके कृपाप्राप्त लेखक भी पाँच ही श्रेणीके होते हैं। ऋषियोंसे साक्षात् सम्बन्ध युक्त ऋषि-योंके अवताररूपी लेखक प्रथमश्रेणीमें परिगणित होते हैं। ऋषि-योंके साथ परम्परासम्बन्धसे युक्त ऋतम्भरा नामक योगबुद्धिको प्राप्त लेखक दूसरी श्रेणीके समझे जाते हैं; इन दूसरी श्रेणीके लेखकों-के द्वारा भी आर्षज्ञानका मौलिक तत्त्व नूतन आकारमें प्रकट हो सकता है। इन प्रथम और द्वितीय दोनों श्रेणीके उन्नत ज्ञानी व्यक्तियोंमें मन्त्रद्रष्टा प्रकट हो सकते हैं। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा इस संसारके नैमित्तिक ऋषिगण इन्हीं दोनों श्रेणीमेंसे समझे जा सब हैं। यथा निरुक्तके दैवतकाण्डमें:—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"

उन्नत तथा अवनत अधिकारमें ऋषियोंकी मन्त्रदृष्टि होती है। परन्तु यह नहीं समझा जा सकता कि इन दोनों श्रेणियोंके व्यक्ति

सभी नैमित्तिक ऋषि होंगे। तात्पर्य यह है कि जब कभी वेदके अविर्भावकी आवश्यकता होती है तब इन्हीं दोनों श्रेणियोंके ज्ञानी महात्माओंमेंसे नैमित्तिक ऋषि प्रकट होते हैं। इन दोनों श्रेणियोंके उन्नत ग्रन्थकर्ता जगत्में कभी कभी प्रकट होते हैं। तीसरी श्रेणीके ग्रन्थकर्ता वे कहाते हैं कि जो वेद तथा ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके रहस्योंको पूर्णरीत्या अथवा अंशरूपसे ठीक ठीक समझ कर उनका विस्तार टीका, टिप्पणी, भाष्य द्वारा अथवा अन्य मीमांसा ग्रन्थ द्वारा प्रकट करते हों। आचार्य्यगण प्रायः इसी श्रेणीके ग्रन्थप्रणेता साधारणतः होते आये हैं। चतुर्थ श्रेणीके ग्रन्थकर्ता वे होते हैं कि जो आर्षग्रन्थोंसे संग्रह करके अपने समयके देशकालके उपयोगी ग्रन्थोंके प्रणयन द्वारा धर्म्मज्ञानका प्रचार जगत्में करते हों। ऐसे विद्वान् भी इस श्रेणीमें समझे जा सकते हैं कि जो पूर्वाचार्य्योंका पथ अवलम्बन करके अपने समयके उपयोगी नाना प्रकारके ज्ञान-विज्ञानके रहस्य-प्रतिपादक नवीन ग्रन्थ प्रणयन करते हों। इस श्रेणीके ग्रन्थकर्तागणमें प्रतिभाकी आवश्यकता अवश्य ही रहती है। और साधारण ग्रन्थकर्ता पञ्चम श्रेणीके समझे जाते हैं। कुछ ही हो इन सब प्रकारके ग्रन्थकर्ता जो कुछ कार्य्य कर सकते हैं या करते हैं वह सब कार्य्य नित्य ऋषियोंकी कृपाकी अपेक्षा रखता है—इसमें सन्देह नहीं। अध्यात्मशक्तिका प्रकाश ऋषित्वका लक्षण होनेसे सभी नित्य ऋषि ब्राह्मण होते हैं। इनमें देवता और पितरोंकी तरह चार वर्णोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। केवल इनमें नैमित्तिक अवतारमें चार वर्णोंकी व्यवस्था हो सकती है। इसी कारण वेदके मन्त्रद्रष्टा अनेक क्षत्रिय ऋषि भी संसारमें प्रकट हुए हैं। उनके ये सब ब्राह्मणेतर वर्णोंमें अवतार आवेशावतार समझने चाहिये। नित्य ऋषियोंकी अध्यात्मशक्तिका उनमें आवेश होनेसे ही उनके द्वारा मन्त्रदर्शन आदि कार्य सामयिक रूपसे हुआ करते

थे। अन्यथा, अंश अथवा पूर्णरूपमें ऋषिशक्तिका अवतार भी ब्राह्मणशरीरके द्वारा होना ही स्वाभाविक होगा, क्योंकि, ब्राह्मणशरीर ही पूर्ण अथवा अंशरूपसे अध्यात्मशक्ति धारण तथा प्रकट करनेका केन्द्र हो सकता है।

यही आर्यशास्त्रमें वर्णित ऋषि, देवता तथा पितरोंका अति गूढ़ तत्त्व हैं।

श्रीभगवत्‌शक्तिके विकाशकेन्द्र होनेके कारण ऋषि, देवता, पितृ-गण सभी पूज्य हैं और इसी कारण नवाङ्गयुक्त उपासनामें इनकी भी पूजा विहित की गई है।

भक्ति ।

—:*:—

भक्ति सकल साधनाका प्राण है, इसलिये उपासनाके नौ अङ्गोंका वर्णन करके उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्तिके स्वरूपके विषयमें कुछ कहना अत्यावश्यक है।

भक्तिका लक्षण क्या है इस विषय पर विचार करते हुए अद्वैत-सिद्धिकार मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि "द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति" अर्थात् भगवद्भावसे द्रव होकर भगवान्‌के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकार भाव है वही भक्तिका लक्षण है। इसी तदाकार भावका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें वर्णित किया गया है। यथा—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

गुणगान सुनते ही विष्णु भगवान्‌के प्रति, समुद्रगामिनी गङ्गाजीकी अविराम धाराकी नाईं चित्तकी जो अहेतुक, अनवच्छिन्न गति है उसीको भक्तियोगका लक्षण कहा जाता है। भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति साधककी चित्तवृत्ति ऐसी ही हो जाती है, जिसके भूरि भूरि दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें मिलते हैं। भक्तजन-मुकुटमणि प्रह्लादने नृसिंहरूपधारी श्रीभगवान्‌के पास इसी पवित्र प्रेमकी प्रार्थना की थी। यथा विष्णुपुराणमें—

> या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

प्रह्लादकी प्रार्थना यह है कि अज्ञानी विषयी लोग जिस प्रकार

विषयके प्रति एकतान होकर प्रीति करते हैं उसी प्रकार अविच्छिन्न अविनाशी प्रेम भगवान्के प्रति हो। भगवान्के प्रति इस प्रकार प्रेम होना ही भक्तिका लक्षण है। भक्ति-दर्शनके सूत्रकार देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य तथा महर्षि अङ्गिराने इसी सिद्धान्तको लेकर अपने अपने दर्शनोंमें भक्तिका लक्षण निर्णय किया है। यथा नारद-सूत्रमें—

"सा कस्मिन्परमप्रेमरूपा" "अमृतस्वरूपा च"

अनिर्वचनीय परमेश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं। भक्ति जीवको नित्यानन्दका अधिकारी भी कर देती है। शाण्डिल्य-सूत्रमें लिखा है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्"

ईश्वरके प्रति परम अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। क्योंकि उनके प्रति प्रेम होनेसे ही जीव अमृतरूप हो जाता है। महर्षि अङ्गिराकृत दैवीमीमांसादर्शनमें—

"सानुरागरूपा" "स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा"

भक्ति श्रीभगवान्के प्रति अनुरागरूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकारके हैं यथा स्नेह, प्रेम और श्रद्धा। अपनेसे छोटोंमें अनुराग स्नेह, समान समानमें अनुराग प्रेम और श्रेष्ठोंमें अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीन प्रकारके प्रेम ही लौकिक तथा नश्वर हैं। परन्तु इससे अतिरिक्त परमेश्वरके प्रति जो अविनश्वर तथा अलौकिक अनुराग है उसे भक्ति कहते हैं।

भक्तिके लक्षणको और भी स्पष्ट करनेके लिये यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जितना पशुभावके अधिकारको छोड़ता हुआ देवभावके अधिकारको प्राप्त करता जाता है उतना ही उसमें प्रेम और अनुराग बढ़ता जाता है। अनुराग अथवा प्रेमके पहचाननेका लक्षण यह है कि मनुष्य जितना अपने स्वार्थोंको भूलकर दूसरेके स्वार्थोंको

अपना स्वार्थ समझता जाय उतना वह मनुष्य प्रेमिक कहाता है। माता-पिता, पुत्रकन्याके लिये अपने स्वार्थको भूलकर पुत्रकन्याके सुखसे अपनेको सुखी जितना समझते हैं उतने ही वे प्रेमिक पिता माता कहलाते हैं। पति स्त्रीके लिये, स्त्री पतिके लिये, मित्र मित्रके लिये जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करता हुआ एक दूसरेके सुखसे अपनेको सुखी और एक दूसरेके दुःखसे अपनेको दुःखी अनुभव करता है उतना ही वह प्रेम-राज्यका अधिकारी माना जाता है। दूसरेके लिये अपनेको भूलना, दूसरेके सुखके लिये अपने सुखको विसर्जन करना, स्वयं दूसरेका बन जाना यही अनुरागकी भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत्में श्रद्धा, प्रेम और स्नेहरूपसे तीन प्रकारका होता है जैसा कि पहले कहा गया है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्द्ध्वगामी श्रद्धा और समगामी प्रेम, तीनोंमें ही लौकिक, नाशवान् अवलम्बन होनेसे तीनों ही दुःखके मूल हैं। परन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं होता है। भक्तिका अधिकारी भाग्यवान् उपासक संसारको भूलकर अपने अनुराग-प्रवाहको अलौकिक अविनश्वर नित्यानन्दरूप भगवान्की ओर प्रवाहित करता है। इसलिये दुःख-लवलेश-विहिन एतादृश अलौकिक अनुराग ही भक्तिपदवाच्य है।

अब भक्तिके अङ्ग प्रत्यङ्गके वर्णन किये जाते हैं। भक्ति प्रधानतः द्विधा विभक्त है। यथा दैवीमीमांसा दर्शनमें—"सा द्विधा गौणी परा च"। भक्ति दो भागोंमें विभक्त है—गौणी तथा परा। साधनदशागत भक्ति गौणी और सिद्धिदशागत भक्ति परा भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिके पुनः दो भेद हैं यथा दैवी-मीमांसामें—

"वैधी-रागात्मिका-नाम-भिन्ना साधनलभ्या गौणी"

वैधी और रागात्मिका नामसे द्विधा विभक्त तथा साधन द्वारा प्राप्य भक्ति ही गौणी भक्ति है। गौणी भक्ति दो प्रकारकी है—

वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्तिके लक्षणके विषयमें दैवीमीमांसामें कहा है—

"विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

विधिके द्वारा जिसका साधन होता है इस प्रकार तथा उन्नत भक्ति भूमिके लिये सोपानरूपसे सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधिनिषेधके वशवर्त्ती होकर वैधी भक्तिके विविध अङ्गोंके नियमित साधन द्वारा साधक भक्तिके उन्नत राज्यमें प्रवशाधिकार प्राप्त करते हैं। वैधी भक्ति पुनः नौ अङ्गोंमें विभक्त है यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, वैधी भक्तिके ये ही नौ अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुणकथाओंके श्रवणका नाम श्रवण है। यह वैधी भक्तिका प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेन स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति स मलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत्॥

जहां पर सुधासिन्धुकी नाईं श्रीभगवान्‌की गुणकथा नहीं प्रवाहित होती है, जहां पर परम भागवत साधुगण नहीं निवास करते हैं, जहां पर यज्ञेश्वरके यज्ञका महोत्सव नहीं होता है, इन्द्रलोक होनेपर भी ऐसा स्थान सेवनीय नहीं है। श्रीभगवान्‌की गुणकथा श्रवणद्वारसे हृदयमें प्रविष्ट हो कर शरत् कालीन सरोवर-सलिलकी तरह हृद्गतभावोंको परिशुद्ध किया करती है। इस प्रकार वैधी भक्तिके श्रवणात्मक अङ्ग-सेवन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे श्रीभगवान्‌के

चरण-कमलोंमें सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्तिके द्वितीय अङ्गका नाम कीर्त्तन है। श्रीभगवान्के लोकोत्तर मधुर चरित्र-समूहके कीर्तनका नाम कीर्त्तन है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्त-
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवकी गुणावलीके कीर्त्तन करनेसे अन्तःकरणमें उनकी मधुर मूर्ति विराजमान हो कर तपन-किरणके प्रतापसे अन्धकार अथवा प्रचण्डवायुवेगसे मेघमालाकी तरह हृदय निहित समस्त व्यसनोंको विदूरित कर देती है। श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता हूँ और योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता हूँ। मेरे भक्तलोग जहांपर कीर्त्तन करते हैं वहां ही मैं रहता हूं। इस प्रकारसे श्रीभगवान्के मधुर नाम-कीर्त्तन द्वारा भक्तहृदयमें धीरे धीरे भगवद्भावकी स्फूर्त्ति हुआ करती है। वैधी भक्तिके तृतीय अङ्गका नाम स्मरण है। श्रीभगवान्की मधुर मूर्त्ति, नाम या मधुर भावके स्मरणको स्मरण कहा जाता है। भगवत्स्मरणके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

श्रीभगवान्के चरण-कमलोंके निषिदिन स्मरण करनेसे अमङ्गल-

नाश और शान्ति, सत्त्वशुद्धि, परमात्मभक्ति और विज्ञान विरागयुक्त ज्ञानकी वृद्धि हुआ करती है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

अनन्यचित्त हो कर जो सदा ही मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

मैं सकलभूतोंमें एकभावसे विद्यमान हूं। कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है। केवल जो भक्तिके साथ मेरी भजना करता है वे मुझमें और मैं उनमें हूँ। इस प्रकार वैधी भक्तिके स्मरण-अङ्गके साधन द्वारा भक्तहृदयकमल भगवान्‌की कृपाकिरणसे धीरे धीरे प्रफुल्लित हुआ करता है; जिस कमलासनमें श्रीभगवान् आनन्दके साथ आसीन होते हैं। वैधी भक्तिके चतुर्थ अङ्गका नाम पादसेवन है। श्रीभगवान्‌के चरणकमलकी सेवाका नाम पादसेवन है। इसके फलके विषयमें शास्त्रमें कहा है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥

जिस प्रकार भगवत्पादनिःसृता जाह्नवी अनुक्षण वर्द्धिता हो कर संसारकी मलिनताको दूर करती है उसी प्रकार भगवच्चरण-सरोज सेवा-प्रवृत्तिके द्वारा भी तपस्वियोंके चित्तसे जन्म-जन्मान्तर-सञ्चित मलिनता शीघ्र ही क्षीणताको प्राप्त हो जाया करती है। और इस प्रकारसे चित्तकी मलिनता नष्ट होने पर भक्तचित्तमें भगद्भावका स्फुरण होने लगता है। यही वैधीभक्तिके पादसेवन रूप अङ्गका फल है। वैधीभक्तिके पञ्चम अङ्गका नाम अर्चन है। मृण्मयी, पाषाणमयी आदि स्थूल मूर्त्ति बनाकर अथवा हृदयमें मनोमयी

मूर्ति बनाकर बाह्य और मानस पूजाका नाम अर्चन है। भक्तिके साथ इस प्रकार पूजा करनेसे भगवत्-प्रसन्नता होती है जिससे भक्तहृदयमें भगद्भावका धीरे धीरे उदय होने लगता है। यथा गीतामें—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः॥

पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ हो भक्तिके साथ अर्पण करनेसे मैं सादर ग्रहण करता हूँ। वैधी भक्तिके षष्ठ अङ्गका नाम वन्दन है। श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी वन्दनाका नाम वन्दन है, जिसके द्वारा भक्तमें अहङ्कार नाश तथा भगवद्भावका उदय होता है। तदनन्तर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक वैधी भक्तिके अन्तिम तीन अङ्गोंका साधन भक्ति-शास्त्रमें विहित किया गया है। इन तीनों अङ्गोंका वास्तविक विकाश भक्तिकी रागात्मिका दशामें होने पर भी वैधी और रागात्मिकाकी सन्धिदशामें अभ्यासके तौर पर रागात्मिका दशाकी प्राप्तिके लिये इन तीनोंका साधन होता है। दास्यभावमें श्रीभगवान्‌का दास बनकर उनकी सेवाके अभ्यास द्वारा अहङ्कार नाश तथा भक्ति प्राप्ति और सख्य भावमें उनके सखा रूपसे एकप्राणता प्राप्तिके अर्थ हार्दिक प्रयत्नके द्वारा भक्तहृदयमें अवश्य ही भगवान्‌के प्रति पुण्यमय तथा तदीयतामय मधुर प्रेमका विकाश होने लगता है। तदनन्तर वैधी भक्तिके अन्तिम अङ्ग आत्मनिवेदन भावके अभ्यास द्वारा भक्तकी शारीरिक और मानसिक सकल चेष्टा भगद्भावमयी ही हो जाती है जिसके फलसे भक्त-हृदयमें भगवान्‌के प्रति अपूर्व दिव्य रागका विकाश हो जाता है। आत्मनिवेदन भावके साधनके समय भक्तकी चेष्टायें कैसी होती हैं उसके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्परशेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

आत्मनिवेदन भावके उदय होनेसे साधकका अन्तःकरण भगवच्चरणारविन्दमें, वाक्य भगवद्गुणानुवादमें, हस्त उनके मन्दिरों-के मार्जनमें, कर्ण भगवद्विषयिणी मधुर कथाओंके श्रवणमें, दृष्टि उनकी मूर्त्तिके देखनेमें, शरीर उनके भक्तोंके अङ्ग स्पर्शमें, घ्राणेन्द्रिय भगवच्चरणसरोजसुवासित तुलसीके आघ्राणमें, रसना उनके प्रसाद-ग्रहणमें, चरण उनके तीर्थक्षेत्रोंके गमनमें, मस्तक उनके चरणवन्दन-में और काम विषयविलासमें नियुक्त न हो कर साधुजनोंकी तरह श्रीभगवान्‌की सेवामें ही नियुक्त होते हैं। यही वैधी भक्तिके नवधा विभक्त अङ्गोंका साधन है। वैधी भक्तिके नौ भेदोंका स्वरूप दिखाया गया। यह नौ साधन अथवा इनमेंसे कुछ कुछ साधन भक्तियोगके साधक शिष्यको श्रीगुरुदेव प्रथम उपदेश देते हैं और उसके विशेष विशेष साधनोंका अभ्यास कराते हैं। इसी कारण इस दशाकी भक्तिको वैधी कहते हैं। इस प्रकार साधन द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होनेसे साधकको क्या सिद्धि मिलती है सो नीचे बताया जाता है।

वैधीभक्तिके पूर्ण साधनसे भगवत्कृपाप्राप्त, निशिदिन इष्टदेव-पदध्यान-निमग्न भक्तका हृदयकमल विकसित होकर श्रीभगवान्के प्रति जिस समय अविश्रान्त और अपूर्व अमृतमयी प्रेमधाराका प्रवाह बहने लगता है, जिस प्रेमधाराके मधुर आस्वादनसे परितृप्त भगवान् भक्तके हृदयासनमें विराजमान होकर भक्तहृदयमें निरन्तर आत्म-रति, आनन्द तथा शान्तिका उदय कर दिया करते हैं उसी प्रगाढ़ भगवत्प्रेमका नाम रागात्मिका भक्ति है। यथा दैवीमीमांसामें:—

रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका।

भक्तिके जिस भावसे श्रीभगवान्के प्रति अपूर्व रस अर्थात् प्रेमका अनुभव होता है और जिस भावमें भक्तहृदयमें आनन्द और शान्तिका उदय होता है उसीका नाम रागात्मिका भक्ति है। भक्तिके इस भावमें श्रीभगवान्के प्रति साधकके चित्तकी निरन्तर प्रीति बनी रहती है। जिस प्रकार नवागता कुलवधूको पतिके प्रति प्रेम उत्पन्न करनेके लिये उनकी सेवाकी अनेक विधियाँ प्रथमतः बताई जाती हैं परन्तु जिस समय प्रतिव्रताका प्रेम पतिके प्रति उत्पन्न हो जाता है उस समय वे स्वयं ही निशिदिन उस प्रेममें मग्न रह कर विधिके विना ही समस्त कर्त्तव्यको पालन कर दिया करती हैं उसी प्रकार भक्तिकी वैधी दशामें भगवान्के प्रति प्रेमाभ्यासके लिये श्रवणकीर्त्तनादि अनेक विधियोंकी अवश्यकता होने पर भी भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्के प्रति पतिप्राणा सतीकी तरह प्रेम हो जानेपर विधियोंके अभ्यासका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है। भक्त भगवान्के प्रति पवित्र प्रेमबद्ध होकर उन्हींके चरण-कमलके मधुरध्यानमें अहरहः निमग्न रहते हैं जिससे उनके चित्तमें दुःखलवलेशहीन आनन्द तथा शान्तिकी दिव्यज्योत्सना सदा ही प्रफुल्लित रहा करती है। यथा भागवतमें:—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥

श्रीभगवान्के प्रति मधुर प्रेमभावको प्राप्त करके भक्तहृदय द्रवीभूत हो जाता है, आनन्दसे उनका अङ्ग पुलकित होने लगता है। वे गलदश्रु और गद्गदकण्ठ होकर उन्हींके चरणकमलमें मनोमधुकरको सदैव निमग्न रखते हैं। एतादृश भक्तके हृदयमें अपूर्व आनन्द उत्पन्न होनेसे नयनपथ द्वारा अनन्त आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है और वे श्रीभगवान्के प्रेममें उन्मत्त तथा लवलीन हो जाते हैं। इस प्रकारसे इष्टदेवपदध्याननिमग्न भक्तको संसारके प्रति वैराग्य और भगवद्भाव प्राप्ति होती है जिससे साक्षात् परम शान्ति भक्तहृदयमें चिरविराजमान हो जाती है।

भक्तिकी रागात्मिका दशामें साधककी वहिश्चेष्टा कैसी रहती है इस विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें कहा हैः—

"यज्ज्ञानान्मत्तस्तब्धात्मारामत्वम्"

इस प्रकारके भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि कुछ भी नहीं रहता है। वे कभी भगवत्प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्यगीतादि करते हैं, कभी मधुपान-निमग्न मधुकरकी नाईं भगवदानन्दामृत पानमें मग्न होकर स्तब्ध रहते हैं और कभी बाह्यभावशून्य होकर अन्तर्विराजमान परमात्माके अलौकिक आनन्दमें ही रमण करते रहते हैं। रागात्मिका भक्तिके इन सब भावोंके अनेक प्रमाण शास्त्रमें मिलते हैं। यथा नारदसूत्रमेंः—

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" "मूकास्वादनवत्"
"शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च"
"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं

सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्"

"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति

तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति"

"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति"

भगवत्प्रेमोन्मत्त भक्त गद्गदवाणी तथा भक्ति-रसार्द्रचित्त होकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी उन्मत्तकी तरह निर्लज्ज होकर नाचते गाते हैं। इस प्रकारसे भगवद्भक्त संसारको पवित्र करते हैं। उस समय उनकी लोकलज्जा आदि सभी वृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। वे अच्युत चिन्तासे कभी कभी रोते रहते हैं, कभी उनके विषयमें चर्चा करते रहते हैं और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं। उस समय भगवत्प्रेमजनित आनन्दाश्रुके द्वारा उनकी आखें भर कर निस्पन्द हो जाती हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुण-कथाओंको तथा उनके विविध अवतारोंकी लीलाओंको सुनकर भक्त-हृदय पुलकित तथा गद्गद हो जाता है, वे उच्च स्वरसे गाते, रोते तथा नाचते हैं। उस समय लौकिक दृष्टिमें उनकी चेष्टा बिलकुल पागलकी तरह होती है, वे भगवान्‌का ध्यान करते हैं, संसारको उनका रूप जानकर समस्त जीवोंको प्रणाम करते हैं और मुहुर्मुहुः दीर्घ श्वास त्याग करते हुए निर्लज्ज तथा आत्ममति हो करके हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण इत्यादि रूपसे कहा करते हैं। उस समय उनके चित्तकी सकल कामना नष्ट हो जाती है। काम क्रोधादि समस्त वृत्तियाँ समुद्रमें विलीन नदियोंकी तरह भगत्प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाती हैं। यथा नारदसूत्रमें:—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।

समस्त कर्मोंको श्रीभगवान्‌में समर्पण करके काम, क्रोध, अभिमान आदि उन्हींके प्रति करना चाहिये। भक्तिकी ऊपरोक्त रागात्मिका दशामें भक्त ऐसा ही करते हैं। उनका काम भगवत्प्रेम-

कामनामें, उनका क्रोध अनीश्वर भावोंके दमनमें और उनका अभिमान भगवान्के प्रति एकात्मरतिके अभिमानमें चरितार्थताको प्राप्त हो जाता है जिसके फलसे एतादृश भक्तके हृदयकमलमें निशिदिन आनन्द-कन्द सच्चिदानन्दकी मधुरिमामयी परम स्थिति विराजमान रहती है। वे जब चाहते हैं या प्रार्थना करते हैं तभी इष्टदेव भगवान्की भावमयी स्थूल मूर्त्तिको स्थूल और मानस नेत्रके सामने देख सकते हैं। भक्तशिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव आदिको रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें ही श्रीभगवान्की मधुर मूर्त्तिका दर्शन हुआ था। यथा श्रीमद्भागवतमेंः—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

भक्त भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं—"हे कमललोचन! जिस प्रकार पक्षहीन पक्षिशावक अपनी माताके दर्शनके लिये लालायित रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधाकातर शिशु मातृस्तनपानके लिये व्यग्र रहते हैं और जिस प्रकार प्रवासी पतिके सन्दर्शनके लिये प्रियतमा स्त्रीका चित्त सदैव व्याकुल रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त सदा ही आपके दर्शनके लिये लालायित रहता है।" इस प्रकार श्रीभगवान्के दर्शनके लिये जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्तका चित्त लालायित होता है तभी उनको श्रीभगवान्का दर्शन होता है। जैसा कि परवर्त्ती श्लोकमें कहा गया है यथा—इस प्रकार भगवद्भक्त

महात्मा प्रसन्नवदन, मधुर लोचन, अनन्त रूपाधार, परमसुन्दर श्रीभगवान्‌का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्रिय मधुर आलाप करते हैं। इस प्रकार भगवद्दर्शनका क्या फल होता है? इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
> स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः।
> प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
> प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम्॥

श्रीभगवान्‌के दर्शनसे समस्त पापसमूह विनष्ट हो जाता है, हृदयमें शान्ति तथा पवित्रताकी मन्दाकिनी बहने लगती है। भक्त भगवान्‌के चरणकमलकी शरण ले लेते हैं और अत्यन्त भक्तिसे रोमाञ्चशरीर होकर श्रीभगवान्‌को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। शान्तस्वरूप श्रीभगवान्‌में आसक्तचित्त इस प्रकारके भक्तको किसी लोकमें भी सुखाभाव नहीं होता है। वे श्रीभगवान्‌के साथ प्रिय, आत्मा, वात्सल्य, सखा, गुरु, सुहृद् तथा इष्टदेव भावसे मधुर रागमूलक प्रेममें आसक्त रहते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रति इस प्रकार पवित्र प्रेम होनेसे समस्त संसार साधकके लिये आनन्द-कानन बन जाता है। वे जगत्‌में सर्वत्र ही भगवत्प्रेमका उल्लास देखने लगते हैं। उनकी दृष्टिमें 'समुद्रतरङ्गमें प्रेमका नृत्य नदीके प्रवाहमें, प्रेमका प्रवाह, पवनके सञ्चालनमें उनकी करुणाका प्रवाह, पुष्पोंके विकाशमें आत्मानन्दकी लहरीलीला, सुधाकरके मुखमें प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्रमण्डलमें प्रेमानन्दकी निर्झरिणी, भ्रमरगुंजारमें प्रेमका गुंजार, तथा जगज्जीवोंकी निखिल चेष्टाओंमें प्रेममय भगवान्‌की पवित्र पूजा दिखने लगती है। रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें भक्त तथा भगवान्‌की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान्‌के साथ प्रियतम सखा तथा आदरकी आत्मीय वस्तुकी नाईं हँसते

खेलते रहते हैं, उनपर सब प्रकारका 'जोर' तथा मान करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भी उन सब मान तथा प्यारके ललणोंको आनन्दके साथ सहन करते रहते हैं। इसी आत्मीयतामूलक जोरके साथ ही जिस समय श्रीभगवान्ने भक्त सूरदाससे अपना हाथ छुड़ा लिया था उस समय सूरदासने कहा था—

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे भगवान्! तुम हाथ छुड़ाकर जाते हो इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़कर जा सको तभी तुम्हारा पौरुष मानूँगा। इसी प्रणयमूलक जोर तथा अहङ्कारके साथ भक्त उदयनाचार्य्यने कहा था—

ऐश्वर्य्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

हे भगवान्! तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रक्खो कि जब बौद्ध लोग आकर तुम्हारी सत्ताके नाशके लिये उद्यत होंगे तब तुम्हें मेरे ही आधीन होना पड़ेगा। क्योंकि उस समय मैं ही नास्तिकता-प्रकाशक बौद्धमतका खंडन करके तुम्हारी सत्ताकी रक्षा करूँगा। यही रागयुक्त भक्तका श्रीभगवान्के प्रति प्रेम तथा घनिष्ठतामूलक सच्चा भाव है। भक्तहृदयमें इस प्रकार प्रेमभावका उदय होनेपर भक्तवत्सल भगवान् उनके आधीन हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

श्रीभगवान् कह रहे हैं "मैं भक्तोंके अधीन हूँ स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे हृदय पर साधुभक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है। मेरे भक्त साधुओंके विना मैं अपने आत्माको तथा परमा श्रीको भी नहीं चाहता हूँ। मैं साधुओंकी ही परम गति हूँ। जिन महात्माओंने स्त्री पुत्र परिवार धनादि तथा परलोककी सुखेच्छाको भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया हुआ है उनको मैं किस प्रकारसे त्याग सकता हूं। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिप्राणताके द्वारा निज पतिको वश किया करती है उसी प्रकार समदृष्टिपरायण साधुगण भी मुझमें हृदयको बांध कर मुझे वशीभूत कर लेते हैं। साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नहीं जानते हैं और मैं भी सिवाय उनके और कुछ भी नहीं जानता हूँ।" यही भक्तिकी रागदशामें भक्त और भगवान्का पारस्परिक प्रेमसम्बन्ध है। श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकार पवित्र रागमूलक भावके द्वारा भक्त आध्यात्मिक भूमिमें शीघ्र ही विशेष उन्नति लाभ करते हैं। इसी प्रकारके जगत्पवित्रकारी भक्तिरस-सागरमें उन्मज्जन निमज्जन करनेवाले भक्त भारतवर्षमें समय समय पर वैष्णव उपासक, शक्ति उपासक, शिवोपासक, गणपति उपासक और सूर्योपासक आदि सब उपासक-सम्प्रदायोंमें प्रकट हुए हैं। जिनकी महिमा उक्त सम्प्रदायोंके पुराणोंमें वर्णित है। प्रकृतिके वैचित्र्यानुसार भावका भी वैचित्र्य

होनेसे ऊपर लिखित राग किन किन भावोंसे भक्तके द्वारा विकाशको प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

भावमय दृश्यसंसार चतुर्दशधा विभक्त होनेसे भावमूलक भक्तिरस भी चतुर्दश प्रकारके होते हैं। प्रकृतिकी स्वाभाविक विचित्रता चतुर्दश प्रकारसे ही प्रकट होती है। इसलिये भक्ति-राज्यके जीवोंमें स्वभावतः ही चतुर्दश प्रकारके भक्तिभाव देखनेमें आते हैं। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें—

"रसज्ञानामपि चतुर्दशधा, तत्र सप्त मुख्याः सप्त गौणाः"
"हास्यादयो गौणाः दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्ति-आत्मनिवेदनासक्ति-गुणकीर्तनासक्ति–तन्मयासक्तयश्च मुख्याः"

श्रीभगवान्‌के प्रति प्रीतिमूलक रसका बोध चतुर्दश प्रकारसे होता है। उसमें सप्त रस गौण हैं और सप्त मुख्य हैं। हास्य आदि रस गौण हैं और दास्य, सख्य आदि रस मुख्य हैं। इन दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा उन्नति लाभके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है:—

परा मुख्यरससन्निकर्षादुन्नतता तु सर्वरसाश्रया।

दास्यादि मुख्य रसोंके द्वारा ही पराभक्ति लाभ हुआ करती है, परन्तु उन्नति मुख्य गौण सभी रसोंके द्वारा होती है। श्रीभगवान् रस-रूप होनेसे उनकी ही सत्तासे विकाशप्राप्त मुख्य तथा गौण सकल रसोंके भीतर उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। इसलिये सकल रसों-के द्वारा ही उन्नतिलाभ हुआ करता है। केवल दोनोंमें भेद इतना ही है कि हास्य, बीभत्स आदि गौण रसोंके साथ बहिर्विषयोंका सम्बन्ध रहनेसे तथा उनके आधारके मालिन शृंगारमय होनेसे गौण रसके द्वारा अद्वैत भावमय निर्विकल्पसमाधिप्रद पराभक्तिलाभ नहीं हुआ करता है, उनके द्वारा भक्तिराज्यमें उन्नति और अन्तमें सालोक्य

मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सप्त मुख्य रसोंका फल इस प्रकारका नहीं है। क्योंकि इन रसोंके आधार शुद्धशृंगारमय होनेसे तथा इनके साथ बहिर्विषयोंका सम्बन्ध नहीं रहनेसे उन सभोंके द्वारा साक्षात्-रूपसे पराभक्तिलाभ हुआ करता है। अब नीचे गौण तथा मुख्य दोनों रसोंके ही विविध भावोंका वर्णन किया जाता है। गौण रसके सात भाव हैं यथा-हास्य, वीर, करुणा, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र। भक्त अपनी प्रकृतिके अनुसार कहीं वीर भावसे, कहीं करुणा भावसे, कहीं रौद्र भावसे और कहीं हास्य आदि रसके साथ श्रीभगवान्में अपने चित्तको लवलीन करता है। जिसके परिणाम-में तन्मयता उत्पन्न होकर भक्तको भक्तिराज्यमें उन्नतिलाभ हुआ करता है। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें श्रीभगवान्का प्रतिज्ञाभङ्ग कराकर उनके भक्तवत्सल नामको जगज्जनोंके सामने प्रकट कर देनेके लिये भीष्मपितामहका जो कृष्णसखा अर्जुनके साथ घोर संग्रामका भाव था, जिस भावके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णको अपनी प्रतिज्ञा तकको भङ्ग करनी पड़ी थी वह भाव वीररसका एक अति मधुर दृष्टान्त है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके व्रजधाममें रहते समय जिस भावके द्वारा गोपबालकगण उनसे मिलते और वयस्यकी तरह हँसते खेलते थे वह भाव हास्यरसका है। इन सब भावोंके अन्यान्य अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें पाये जाते हैं यथाः—

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी।
वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमीदामबन्धे सजीयात्॥
भैष्मीराधादिरूपेषु शृंगारः परमोज्ज्वलः।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान्॥

बल्यर्ज्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने।
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत्॥
गोपालबाला हास्य श्रीदामोद्वहनादिषु।
एवमन्यत्र भीत्यादि त्रितयेऽपि विचिन्त्यताम्॥

इन सब श्लोकोंके द्वारा गौणरसके विविध दृष्टान्त बताये गये हैं। यथा—राधिकामें शृंगार रस, सखियोंमें करुण रस, अघासुर बकासुरके मारनेमें बीभत्स रस, गोपियोंके वस्त्रहरणमें हास्य, दैत्योंमें वीर रस, इन्द्रके रुष्ट होनेमें रौद्र रस, माखनचोरीमें विचित्र रस, भीष्ममें वीर रस, बलि अर्जुन तथा यशोदाके विश्वरूपदर्शनमें अद्भुत रस, गोपाल-बालकोंमें हास्य रस इत्यादि सभी गौण रसके दृष्टान्त हैं। इन सब रसोंके गौण होनेपर भी इनके द्वारा उन्नति तथा सालोक्यादि मुक्ति किस प्रकारसे होती है इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है:-

उक्तं पुरस्तादेतत् ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

जिस प्रकार श्रीभगवान्के प्रति द्वेषबुद्धिसे आसक्त होने पर भी चेदिराज शिशुपालकी मुक्ति हो गई थी उसी प्रकार गौण रसके साधनसे भक्तोंको मुक्ति मिलती है। श्रीभगवान्के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहृद्य आदि किसी भावके द्वारा भी अनुरक्त होनेसे श्रीभगवान्की लोकोत्तर शक्तिके बलसे उसी भावमें ही भक्तको तन्मयताप्राप्ति हो जाती है। और भगवद्भावमें तन्मयताप्राप्ति होकर मृत्यु होनेसे भगवल्लोकप्राप्ति अवश्य ही होती है। क्योंकि गीताजीमें लिखा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

जिस भावको स्मरण करके भक्त प्राणको छोड़ता है, परलोकमें उसीके अनुसार गति मिलती है। अतः किसी भी गौणरसके अवलम्बनसे इष्टदेवमें तन्मय होकर शरीर त्याग होनेसे उन्नति और सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त अवश्य ही होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? यही हास्य, करुण आदि सप्त गौण रसका स्वरूप और फल है। अब रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्त मुख्यरसोंका वर्णन किया जाता है। उनके नाम यथा–दास्यासक्ति,सख्यासक्ति,वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयासक्ति। श्रीभगवान्के प्रति मधुर रागका विकाश होनेसे भक्त निज निज प्रकृतिके अनुसार कहीं दास भावसे, कहीं सखा भावसे, कहीं कान्ता आदि भावसे उनके साथ प्रेम करते हैं और इन सब प्रीतियोंके साथ लौकिक भावका नाममात्र भी न होनेसे इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें अवगाहन करके भक्तहृदय भावग्राही भगवान्के उदार आनन्दमय भावमें तन्मयता प्राप्त हो जाता है और तदन्तर तन्मयभावके परिपाकदशामें निर्विकल्पसमाधिका उदय होकर सर्वत्र वासुदेवात्मक अद्वैत ब्रह्ममय जगत्का दर्शन होता है। यही शुद्धरागका लक्ष्य और चरम फल है। अब नीचे संक्षेपसे प्रत्येक भावका स्वरूप और परिणाम बताया जाता है। रागात्मिका भक्तिके दासभावमें प्रभुभक्त दासकी तरह भक्त अपने शरीर, मन, प्राण और आत्माके द्वारा श्रीभगवान् और उनके विराट्रूप संसारकी सेवा करते हैं। इसी प्रकार सख्यभावमें सखारूपसे, वात्सल्यभावमें सन्तानरूपसे और कान्ताभावमें पतिरूपसे श्रीभगवान्के साथ भक्त प्रेम करता है। गुणकीर्त्तन भावमें उनके गुणगानमें ही भक्त मग्न रहता है और आत्मनिवेदनासक्तिमें भक्त

भगवान्में अपने आत्माको निवेदनकर परम प्रेमका आस्वादन करता है। इस विषयमें गीतामें लिखा है यथा—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः ॥

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझमेंही समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्यभावसे ध्यानयोगके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भावनिमग्नहृदय उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही संसारसिन्धुके पार कर देता हूं। मदेकचित्त, मद्भक्त, मेरेमें यजनशील और प्रणामपर भक्त अवश्य मुझे प्राप्त करते हैं। आत्मनिवेदनासक्तिके द्वारा ऊपर लिखित सभी भावोंके उदय होनेसे भक्त शीघ्रही आत्मरूप तथा आत्मरति होकर श्रेष्ठभक्तकी पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण होनेसे जीवभावसुलभ अहङ्कार उनका आमूल उन्मूलित हो जाता है और भक्तहृदय अनन्त भगवान्के अनन्तामृतमय प्रेममें निमग्न होकर पराभक्तिके परमानन्दमय पदमें सम्यक प्रतिष्ठित हो जाता है। यही आत्मनिवेदनासक्तिका मधुर लक्षण तथा अलौकिक परिणाम है।

अनुरागके अन्तिमभावका नाम तन्मयासक्ति है। दास्य, सख्य आदि भावोंके परिपाकमें जिस समय भक्त भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करते करते उन्हींमें अपने अन्तःकरणको लय करके श्रीभगवान्के साथ अभिन्न भावसे उन्हींमें तन्मय होकर प्रेम करते हैं तभी वह अनुराग तन्मयासक्ति कहलाती है। यह आसक्ति अनुरागका चरमभाव और रागात्मिका तथा पराभक्तिका सन्धिरूप

है। इस भावके उदय होनेसे भावपयोधिनिमग्न और आत्मसत्ताकी पृथक्ताको विस्मृत होकर कभी भक्त अपनेको ही प्रणाम करते हैं और कभी अपनी स्थितिका अनुभव करके श्रीभगवान्‌को प्रणाम करते हैं। यथा योगवासिष्ठमें:—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने॥

हे परमपुरुष परमात्मन्! तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्तशिवरूप देवादिदेव मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकारसे तन्मय होकर भक्त अपनेको और परमात्माको नमस्कार करते रहते हैं और भावनिमग्न हो आत्मरूप हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्दमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तिलिङ्गः॥

श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तिप्रवाहको प्रवाहित करके अजस्रानन्द-परिप्लुतहृदय तथा पुलकिताङ्ग होकर भक्त अपनी पृथक् सत्ताको भूल जाते हैं और यही मुक्तिप्रद तन्मयभावका लक्षण है। इस भावका लक्षण मुकुन्दप्रिया गोपियोंके चरित्रमें कभी कभी देखनेमें आता है। श्रीभगवान्‌ने भी निज मुखसे कहा है:—

ता मा विदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

मेरे प्रेममें समासक्तचित्त होकर गोपियाँ अपनेको, परिजनोंको और इहलोक परलोकको भी भूल जाया करती थीं। जिस प्रकार मुनिगण समाधिमें निमग्न होकर अपनी पृथक्सत्ता विस्मृत हो जाते हैं और नदियाँ भी समुद्रमें विलीन होकर नामरूपसे च्युत हो जाया करती हैं। यह सब भाव तन्मयसक्तिका ही दृष्टान्तरूप है। जैसे कान्तासक्तिकी अधिकारिणी व्रजगोपिकाओंमें कभी कभी इस प्रकारकी तन्मयासक्तिका भाव प्रकट हुआ था, इसी प्रकार अन्यान्य आसक्तियोंके अधिकारी भक्तोंमें भी समय समय पर यह सर्वोच्च भाव प्रकाशित होकर वह भक्तको पराभक्तिके अधिकारकी ओर अग्रसर करता है। यह अधिकार इतना उच्च है कि इसके दृष्टान्तके लिये हरिमें हर और हरमें हरिकी तन्मयासक्तिके उदाहरणके अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। हरि हरमें और हर हरिमें अभिन्नरूपसे एकप्राणताके साथ जो निशिदिन रत रहते हैं यह उन दोनोंमें तन्मयभावका ही लक्षण है। यथा देवीभागतवतमें:—

शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम्।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि॥
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम्॥
शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः॥

हरि कह रहे हैं "मैं निशदिन अपने हृदयमें आशुतोष गिरिजावल्लभ देवादिदेव हरका ध्यान करता हूं। कभी कभी देवदेव महादेव भी मेरा ध्यान करते रहते हैं और कभी मैं भी त्रिपुरान्तक शूलपाणिका ध्यान करता रहता हूं। मैं शिवका प्राण हूं और शङ्कर भी मेरे प्राण हैं, तन्मयभावमें अन्योन्यासक्त हम दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। यही तन्मयासक्तिका अपूर्व तथा अलौकिक दृष्टान्त है।

गुरुदेवके उपदेश द्वारा विधिनिषेध मानते हुए साधनराज्यमें वैधीभक्तिकी सहायतासे अग्रसर होते होते साधक भक्त जितना भक्तिराज्यमें अग्रसर होता जाता है उतनी ही विधिनिषेधमें उसकी शिथिलता होती जाती है। संसारमें भी देखा जाता है कि मित्रके साथ मित्रकी या प्रेमीके साथ प्रेमिकाकी जितनी प्रीति अधिक गाढ़ी होती जाती है उतना विधिनिषेधका पर्दा भी उठता जाता है। इसी प्रकार वैधीभक्तिका साधक विधिनिषेधवाली वैधीभक्तिकी साधना करते करते अपने प्रियतम इष्टदेवके साथ जितनी प्रीतिको बढ़ाता जाता है उतना ही उसमेंसे विधिनिषेधका भाव नष्ट होता जाता है। उसके अनन्तर साधकके सम्मुख अनुरागका द्वार खुल जाता है। जिस प्रकार प्रियतमकी प्रियतमामें और प्रियतमाकी प्रियतममें सच्ची प्रीति होनेसे परस्परके सब भाव और परस्परके सब अङ्ग सुन्दर तथा आनन्दपर अनुभव होनेपर भी परस्परको किसी किसी अङ्ग तथा भावका सौन्दर्य्य तथा आनन्द अधिकतर अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार वैधीभक्तिका साधन जब अनुरागके सच्चे द्वारमें प्रवेश करता है तब उस समय दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्तनासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तथा तन्मयतासक्ति इनमेंसे किसी भावकी माधुरी साधकको अधिक-रूपसे मोहित करती है। मनुष्यके अन्तःकरणके प्रकृतिवैचित्र्यके कारण ही कोई भक्त किसी भावमें तथा कोई भक्त किसी भावमें अधिक आनन्द अनुभव करता है। उस समय वैधीभक्तिसे रागात्मिकाभक्तिमें पहुंचा हुआ साधक जिस भावमें अधिक आनन्द अनुभव करता है उसी भावको उन्नत करता हुआ वह उन्नतभक्त उसी आसक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता हुआ अपने अन्तःकरणको रस-सागरमें निमग्न करता है। वैधीभक्तिसे रागात्मिका भक्तिके उदय-का यही रहस्य है। विष्णूपासक, सूर्य्योपासक, देवीउपासक,

गणपति उपासक और शिवोपासक सम्प्रदायोंके त्रिलोक-पवित्रकारी भक्तगण ऐसी ही रागात्मिका भक्तिको जगत्में अनादिकालसे प्रकट करते आये हैं। और अन्तमें वे ही विष्णुलोक, सूर्य्यलोक, देवीलोक आदि लोकोंमें पहुंचकर सालोक्य, सारूप्य आदि चतुर्विध मुक्ति प्राप्त करते आये हैं।

सनातन धर्मके सर्वाङ्गसम्पूर्ण विज्ञानके अनुसार भक्तिविज्ञान-की भी पूर्णताका पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णन किया है। वह पूर्णता अन्य उपधर्मोंमें नहीं पायी जाती है। यद्यपि सर्वलोकहितकारिणी भक्ति सब धर्म तथा उपधर्मोंके लिये समानरूपसे हितकारी है, यद्यपि वैधीभक्तिका वर्णन सब उपधर्मोंमें किसी न किसी प्रकारसे पाया जाता है और किसी किसी उपधर्ममें रागात्मिका भक्तिके भी आंशिक लक्षण मिलते हैं, परन्तु दार्शनिक विज्ञानके अभाव और मधुरतामय सगुण उपासनाके अभावसे उन उपधर्मोंमें रागात्मिका भक्तिके सब रसोंका विकाश नहीं हो सकता है। और दार्शनिक विज्ञानके अभावसे पराभक्तिकी पूर्णता तो उक्त उपधर्मोंमें होना असम्भव ही है।

इस प्रकार श्रीभगवान्में प्रेमासक्तिकी पूर्णता होनेसे भक्तान्तः-करणोंमेंसे धीरे धीरे ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश हो जाता है और तदनन्तर भक्त भगवद्रूप होकर सर्वत्र विराजमान अपरिच्छिन्न आनन्दमय सच्चिदानन्द सत्ताकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। यही अवस्था पराभक्तिकी है। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें:—

"स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा"

आनन्दमय परमात्माके अखण्ड स्वरूपके प्रकाशक होनेके कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्दप्रदा है:—

"रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्"

भावसमुद्रमें निमग्न होकर भक्त रसरूप अर्थात् आनन्दमय भगवान्के साथ तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं। प्रेमासक्तिके विपाकमें इस भावका उदय कैसे हो जाता है एतत्प्रसङ्गमें उक्त दर्शनमें कहा है:—

"परालाभो ब्रह्मसद्भावकातन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात्"

ब्रह्मसद्भावप्रद तन्मय भाव समुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन द्वारा पराभक्तिका उदय होता है। श्रीभगवान्के चरणकमलोंका ध्यान एकान्तरति होकर करते करते क्रमशः साधकचित्तमेंसे तन्मयता द्वारा ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश होजाता है। रागात्मिका भक्तिकी दशामें साधक रागात्मिका भक्तिके पृथक् पृथक् भावोंको पृथक् पृथक् अनुभव करते हैं। यद्यपि रागात्मिका दशामें भक्त भाव-समुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन करने लगते हैं परन्तु जिस भावके वे विशेष पक्षपाती हो जाते हैं उसकी विशेषता उनके अन्तःकरणमें बनी रहती है। परन्तु पराभक्तिकी सर्वोत्तम दशामें भगवत्स्वरूपकी उपलब्धिके होजानेसे रसोंकी पृथक्ताका पक्षपात भक्तके हृदयसे तिरोहित हो जाता है। तब वह भक्त सकल रसोंमें समान आनन्द अनुभव करने लगते हैं और किसी समय तथा किसी अवस्थामें भी उनके अन्तःकरणसे परमात्माके स्वरूपका अभाव नहीं होता है।

इस प्रकारसे सुखदुःखातीत द्वन्द्वातीत और गुणातीत भक्त मायारहित परब्रह्मस्वरूपमें परमास्थितिको प्राप्त हो जाते हैं। उनके आत्माका देह, मन आदिके साथ कुछ भी अभिमान या अध्यास अवशेष नहीं रह जाता है। वे ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। यही रागात्मिका भक्तिके अन्तमें पराभक्तिप्राप्त सिद्ध भक्तके आनन्दमय सच्चिदानन्द स्वरूपमें अवस्थिति और भक्ति-साधनका चरम फल है। इस दशामें भक्त निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर अलौकिक सुखदुःखरहित परमानन्दका उपभोग करते हैं। यथा उपनिषद्में—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

समाधिके द्वारा निर्मल अन्तःकरण आत्मामें विलीन होकर जो परमानन्दका उपभोग करता है उसका वर्णन वाक्यके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल स्वान्तःकरणमें ही उसकी एकान्त अनुभूति होती है। और भी गीतोपनिषद्में—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

पराभक्ति दशामें स्वरूपस्थित होकर भक्त जिस आनन्दकी उपलब्धि करते हैं वह आत्यन्तिक अर्थात् दुःखलेशविहीन नित्यानन्द है जो इन्द्रियोंसे अतीत और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ही अनुभवनीय है। इस आनन्दपर प्रतिष्ठित होनेसे महात्मा पुरुष कभी किसी समय अपनी तात्त्विक स्थितिसे विचलित नहीं होते, प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आनेपर भी उनके अन्तःकरणपर उसका कोई भी प्रभाव नहीं होता, और उस परम वस्तुको प्राप्त करके अन्य किसी वस्तुको उससे अधिक स्पृहणीय नहीं समझते। उस समय उनकी दृष्टि कैसी होती है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सर्वत्र अद्वितीयदर्शी एतादृश योगयुक्तात्मा पूर्णभक्त परमात्माको सकल भूतोंमें और सकलभूतोंको परमात्मामें देखते हैं और

आनन्दमय परमात्माको सर्वत्र देखकर सकल अवस्थामें ही समाधि-सुलभ परमानन्द प्राप्त करते हैं।

इस प्रकारसे सच्चिदानन्दभावमें ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्ति दशामें आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसारमें अवस्थान करते हैं और तत्पश्चात् प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृतिमें और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मामें मिलकर एक हो जाती है। यथा उपनिषद्में—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी तरङ्गिणी नामरूपसे च्युत होकर समुद्रमें मिल जाती है उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती है उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम तथा रूपको त्याग कर विदेहमुक्ति-दशामें परात्पर परब्रह्ममें अपनी पृथक् सत्ताको भूलकर विलीन हो जाते हैं। उनके लिये संसारमें जन्ममरणचक्र एकबार ही बन्द हो जाता है। दुःखमय संसारमें उनको पुनः आना नहीं पड़ता है। यही सकल साधनाका लक्ष्य तथा भक्तियोगका चरम परिणाम है।

वैराग्य।

वैराग्यके विना साधनामें रुचि नहीं होती है, इसलिये साधनाके समस्त अङ्गोंका वर्णन करके अब वैराग्यके विषयमें कुछ कहा जाता है।

वैराग्य किसको कहते हैं, इस विषयमें श्रीभगवान् पतञ्जलिका सूत्र यथाः—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"

कामिनी काञ्चनादि दृष्ट अर्थात् ऐहलौकिक विषय तथा स्वर्गादि आनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक विषय इन दोनोंमें विषयसंयोग होने पर भी चित्तकी जो भोगरहित वृत्ति है उसे वैराग्य कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि कामिनीकाञ्चनादि ऐहलौकिक नाना प्रकारके विषयों तथा स्वर्गके नाना पारलौकिक विषयोंका सम्बन्ध अन्तःकरणके साथ होनेपर जब विचारवान् व्यक्तिमें उक्त विषयोंकी ओर उसके चित्तका आकर्षण होता ही नहीं, विचारशील व्यक्तिके अन्तःकरणकी उस विषयरागरहित अवस्थाको वैराग्य कहते हैं। शास्त्रकारोंने वैराग्यको चार भागोंमें विभक्त किया है। उन्हीं चार प्रकारको वैराग्यदशाके समझनेके लिये अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगिराजोंने साधकके अन्तःकरणकी चार दशाओंका वर्णन किया है। इन चार दशाओंके भली भाँति समझ लेनेसे वैराग्यकी चार श्रेणियोंका यथार्थ स्वरूप स्वतः ही प्रकट हो सकता है। वह चारों दशाएँ इस प्रकारकी हैं। यथा—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा है। इस जगत्में सार क्या है और असार क्या है, गुरु और शास्त्रकी सहायतासे इसके जाननेके लिये जो यत्न है वही चित्तकी यतमान अवस्था है। चित्तमें जितने दोष

पहले थे उनमेंसे इतने नष्ट हो गये हैं और इतने बाकी हैं इस प्रकार-के विवेचनको व्यतिरेक अवस्था कहते हैं। विषरूप विषयमें दुःख-ज्ञान द्वारा इन्द्रियोंकी अप्रवृत्ति होनेपर भी अन्तःकरणमें जो विषय-तृष्णाकी स्थितिकी अवस्था है उसे ही एकेन्द्रिय अवस्था कहते हैं। अन्तमें अन्तःकरणसे भी विषयतृष्णाका नाश होनेसे चित्तकी जो अवस्था होती है उसे ही वशीकार संज्ञा कहते हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने वैराग्यके चार भेदोंकी चार संज्ञा की है। यथा—मृदु वैराग्य मध्य वैराग्य, अधिमात्र वैराग्य और पर वैराग्य। जब विवेकवान् व्यक्तिके विवेकयुक्त अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंका दोष अनुभवमें आने लगता है अन्तःकरणकी उस वैराग्य-वृत्तिको मृदु वैराग्य कहते हैं। इसके अनन्तर जब विवेकभूमिमें अग्रसर साधकके अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंके प्रति अरुचि होने लगती है, विवेकी उपासककी उस उन्नततर दशाका नाम मध्य वैराग्य है। वैराग्यकी तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब विषयभोगमें विवेकीको प्रत्यक्ष दुःख प्रतीत होने लगे। दुःखदायी पदार्थोंमें चित्तकी आसक्ति होना असम्भव है अतः विषयोंका दुःखदायी भाव जब साधकके अन्तःकरणमें प्रति-ष्ठित हो जाता है जिससे विषयका स्वतः ही सम्बन्ध त्याग हो जाता है। वैराग्यकी उस उन्नततम अवस्थाका नाम अधिमात्र वैराग्य है। इस दशामें स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा विषयमें अनासक्ति रहनेपर भी अन्तःकरणका सूक्ष्म संस्कार रह जाता है और जब ऐहलौकिक पारलौकिक विषयमात्रसे योगयुक्त साधकका अन्तःकरण एकबार ही संस्कारशून्य होकर मुख फेर लेता है अन्तःकरणकी उस सर्व-श्रेष्ठ अवस्थाका नाम पर वैराग्य है। पूर्वकथित अन्तःकरणकी चार भूमिके साथ इन चार प्रकारके वैराग्यका समन्वय करनेसे इस प्रकारका सिद्धान्त होता है। यथा—यतमान अवस्थासे मृदु-

वैराग्य, व्यतिरेक अवस्थासे मध्य वैराग्य, एकेन्द्रिय अवस्थासे अधिमात्र वैराग्य और वशीकार अवस्थासे परवैराग्यका सम्बन्ध स्थापित होगा ।

साधनपथमें वैराग्यका प्रयोजन क्या है? क्या विना वैराग्यके भी साधक आध्यात्मिक राज्यमें अग्रसर हो सकता है ? ऐतादृश प्रश्नोंके उत्तरमें मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

कर्मके द्वारा प्राप्त लोक अनित्य हैं इनसे नित्य पदार्थ लाभ नहीं हो सकता है, इस प्रकार विचार और निश्चय करके ब्राह्मण वैराग्य अवलम्बन करेंगे । वैराग्यका उदय होनेके अनन्तर मुमुक्षु साधक आत्मज्ञान लाभ करनेके लिये समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरुके पास जायँ । अतः श्रुतिके उपदेशानुसार ब्रह्मजिज्ञासामें अधिकार लाभके लिये वैराग्य प्राप्त करनेकी विशेष आवश्यकता है ऐसा सिद्ध हुआ । श्रीभगवान् शंकराचार्य्यने लिखा है—

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्योपजायते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥

तीव्र वैराग्य और मुमुक्षुताके होनेसे ही शमदमादि साधन फलवान् होते हैं । शास्त्रमें लिखा है कि जिस प्रकार पक्षीमें उड़नेकी शक्ति रहनेपर भी विना दोनों पंखोंकी सहायताके वह उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार साधन—अभ्यास द्वारा मुक्तिपद प्राप्तिकी सम्भावना होनेपर भी विना वैराग्ययुक्त साधनके साधक कदापि सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता । इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधन-अभ्यास द्वारा साधक शनैः शनैः अपने चित्तकी त्रिगुणात्मक वृत्तियोंका निरोध करके मुक्तिभूमिमें पहुंच सकता है, परन्तु अनादि कालसे सम्बन्धयुक्त विषयवासना जब तक छिन्न न हो जायँ तबतक

अन्तःकरणमें स्थायी शान्तिका उत्पन्न होना असम्भव है। साधन-सुकौशल द्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियाँ उस समयके लिये निरोध हो जा सकती है; परन्तु अनादि कालसे अभ्यास की हुई विषयवासना पुनः साधनकी शिथिल अवस्थामें अन्तःकरणमें प्रकट होकर उसको पूर्ववत् चंचल कर दिया करती हैं। साधकके अन्तःकरणके एक ओर विस्तृत विषयसमूह और दूसरी ओर प्रशांत मुक्तिमार्ग है; परन्तु अनादिसम्बन्धसे अन्तःकरण विषयोंमें वासना रज्जु द्वारा बन्धन प्राप्त रहनेके कारण जब तक साधक वैराग्यशस्त्र द्वारा वासनारज्जुका छेदन न कर सके तब तक वह मुमुक्षु कदापि प्रशांत मुक्तिपथमें अग्रसर नहीं हो सकेगा। वैराग्य अभ्यास द्वारा साधक जितना जितना विषयवासनारज्जुको शिथिल करता जायगा, वह उतना उतना ही मुक्तिपथ द्वारा कैवल्यभूमिकी ओर अग्रसर हो सकेगा। वैराग्य अभ्यास द्वारा मुमुक्षु साधकका अन्तःकरण विषय-वासना शून्य हुआ करता है और साधन-अभ्यास द्वारा साधकके चित्तमें भगवद्भावरूप मुक्तिपदका उदय हुआ करता है; यही वैराग्यसंयुक्तसाधनका विज्ञान है। फलतः विषयवैराग्य द्वारा ही प्रथममें क्षणभंगुर सांसारिक विषयोंमें अनिच्छा उत्पन्न होकर साधकका अन्तःकरण साधनरूपी सत्पुरुषार्थमें लगा करता है; मध्यमें तीव्र वैराग्यकी सहायतासे ही सिद्धयोगी अणिमा, महिमा आदि ऐशी विभूतियोंके फन्देसे अपने आपको बचा सकता है; और शेषमें पर वैराग्यकी ही सहायता ले मुक्तिभूमिमें दृढ़ता स्थापन कर सकता है। इस कारण योगमार्गके आचार्यगणने वैराग्यकी सर्वोपरि आवश्यकता वर्णन की है। योगसाधन-विज्ञानके प्रधान प्रवर्त्तक योगिराज महर्षि पतञ्जलीजीने चित्तवृत्ति निरोधरूप मुक्तिपदके प्राप्त करनेके अर्थ आज्ञा की है कि—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियोंका निरोध हुआ करता है। न तो केवल अभ्यास द्वारा ही योगलक्ष्यरूपी मुक्तिपदकी प्राप्ति की जा सकती है और न केवल वैराग्य द्वारा ही लक्ष्यका साधन हो सकता है, यह दोनों पुरुषार्थ ही कैवल्यपदकी प्राप्तिके अर्थ परस्पर सहायक हैं। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा हैः—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'

वैराग्य और साधनके द्वारा ही मनोनिरोधपूर्वक आत्मसाक्षात्‌कार होता है। जब तक अन्तःकरणमें वैराग्यका उदय न हो तब तक उसकी दृष्टि बहिर्मुखी रहती है और जब तक अन्तःकरणकी दृष्टि बहिर्मुखी रहती है, तब तक उसमें ज्ञानरूप पूर्णप्रकाश होना असम्भव है; इस कारण जब पूर्ण वैराग्यका उदय होता है और अन्तःकरण अपना मुख बाहरकी ओरसे फेरकर भीतरकी ओर देखने लगता है तभी उसको आत्मदर्शन हो सकता है। अतः साधनपथमें वैराग्यका विशेष प्रयोजन है यह निश्चय हुआ। विशेषतः विचारशील मनुष्य मात्र ही समझ सकेंगे कि जिस प्रकार विना पथ्यके औषधि कुछ भी कार्य नहीं कर सकती और विना औषधिके केवल पथ्यका नियम रखनेसे भी रोगका उपशम हो सकता है, इसी प्रकार विना वैराग्यके साधनमार्गमें साधक कदापि अग्रसर नहीं हो सकता है, परन्तु वैराग्ययुक्त व्यक्ति यथाविधि साधन न करनेपर भी निवृत्तिमार्ग और अध्यात्म राज्यमें अग्रसर हो सकता है। वैराग्यके न होनेसे साधकका अन्तःकरण बहु-जन्मजन्मान्तरके संस्कारयुक्त काम लोभ आदि वृत्तिजनित क्षण-भंगुर विषयोंमें जकड़ा हुआ रहनेके कारण साधनपथमें चित्तवृत्ति निरोध द्वारा अग्रसर कदापि नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरण-की विषयवासनायुक्त वृत्तियां उसको सदा फंसाये रखनेके कारण चित्तवृत्तिनिरोध करना एक प्रकारसे असम्भव हो जाता है।

परन्तु यदि साधन अभ्यासका अवसर साधकको न भी मिले और वैराग्यवृत्ति उसमें उत्पन्न हो जाय तो स्वतः ही प्रवृत्ति-संस्कारका नाश होकर उसके चित्तकी परिशुद्धता होने लगती है और उस विवेकी पुरुषका अन्तःकरण वैषयिक चञ्चलतासे हटकर शान्त होने लगता है। अतः साधनकी अपेक्षा वैराग्यकी आवश्यकता सर्व प्रथम है इसमें सन्देह नहीं। साधनके विषयमें आचार्यगणकी ऐसी सम्मति है कि वैराग्यका तारतम्य देखकर तब जिज्ञासुको योगमार्गोंका उपदेश देना उचित है। अर्थात् उनके विचारमें वैराग्यके पूर्वकथित चार भेद यथा—मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य, अधिमात्रवैराग्य और परवैराग्यके अनुसार साधन अधिकार भी उन्नततररूपसे चार रक्खे गये हैं। उनके सिद्धान्तोंके अनुसार मृदुवैराग्यके अधिकारीको मंत्रयोग, मध्यवैराग्यके अधिकारीको हठयोग और अधिमात्र वैराग्यके अधिकारीको लययोगका उपदेश देना उचित है, एवं परवैराग्य-अधिकारी ही यथार्थरूपेण राजयोगका अधिकारी हुआ करता है। इस प्रकारसे योगाचार्य्यगण वैराग्यकी चारों अवस्थाओंके साथ साधनकी चारों अवस्थाओंका सम्बन्ध स्थापन किया करते हैं। साधन और वैराग्यके युगलस्वरूपका यही अपूर्व विज्ञान है।

वैराग्यकी प्रथम अवस्थामें साधककी दृष्टि प्रवृत्ति मार्गोंके भोगोंसे हटने लगती है, एवं वैराग्य कुछ अपूर्व और शान्तियुक्त पदार्थ है ऐसा प्रतीत होने लगता है। इस अवस्थामें साधकका चित्त एकान्त सेवन, वैराग्य सम्बन्धीय एवं अध्यात्मभाव सम्बन्धीय ग्रन्थोंके पाठ और साधु महात्मागणके संग करनेमें प्रवृत्त हुआ करता है। वैराग्यकी दूसरी अवस्थामें अपने आप ही साधकका अन्तःकरण इन्द्रिय सुखभोगोंसे उपराम हो जाता है, तब साधकको यह संसार सूना सा प्रतीत होने लगता है। इस अवस्थामें साधक-

के चित्तकी विकलता बढ़ जाती है और उसको आहार विहार आदि सब कार्य परिणाममें दुःखरूपी ही प्रतीत होने लगते हैं। तब वह साधक एकान्तवासी होकर सदा क्षणभंगुर संसारके क्षण-भंगुर परिणामको सोचा करता है। मौन रहना, ब्रह्मचर्य्य धारण, कामिनी सहवासमें अरुचि और धनसंग्रह करनेमें अनिच्छा आदि वैराग्ययुक्त वृत्तियोंकी तीव्रता उसके अन्तःकरणमें हो जाया करती है। तत्पश्चात् वैराग्यकी तृतीय अवस्थामें ज्ञानकी अधिकतासे साधकके चित्तकी विकलता न्यून हो जाती है एवं तब वह साधक सद्वार्तालाप, सदुपदेशकथन एवं सत्सङ्ग करनेमें सदा ही रत रहा करता है। इस उन्नत अवस्थामें ज्ञानदृष्टि द्वारा साधक अपने पुत्र, कलत्र, मित्र आदि परिजनोंको परमस्वार्थपर जानकर उनसे अपने अन्तःकरणको सम्पूर्णरूपेण रागरहित करनेमें समर्थ होजाता है। स्त्रीजनोंको परम दुःख और नरकका कारण समझकर उनके सङ्गको विषवत् अहितकारी मान लिया करता है और धनको मोह और क्लेशोंका कारण समझकर उसके स्पर्श करनेमें भी अपनी हानि ही समझा करता है। फलतः इस अवस्थामें साधकको अध्यात्म-राज्यका परम आनन्द प्राप्त होने लगता है। तदनन्तर इस उत्तम वैराग्यके परिणाममें परवैराग्यपदकी उत्पत्ति हुआ करती है। यह परवैराग्य वैराग्य-साधनकी चतुर्थ अवस्था एवं वैराग्यभूमिकी चरमसीमा है। इस सर्वोत्तम वैराग्यके प्राप्त करते ही साधकका अन्तःकरण पूर्णरूपेण ऐहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकारके सुखोंसे मुँह फेर लिया करता है। तब उसकी अन्तर्दृष्टि सदा आत्मपदकी ओर ही लगी रहती है, एवं उसके समीप सब वैषयिक भोग-समूह पूर्णरूपेण लयको प्राप्त हो जाया करते हैं। इसी कामना तरङ्गरहित, वैषयिक स्वरूप नाशकारी, परमशान्ति और अद्वैतभाव-युक्त सर्वोत्तम वैराग्यके परिणाममें परम आनन्दरूपी मुक्तिपदका

उदय हुआ करता है। इस संसारभाननाशकारी परवैराग्यसे कैवल्यरूपी मुक्तिपदका साक्षात् सम्बन्ध है। इस रीतिके अनुसार प्रथम अवस्थासे द्वितीय अवस्था, द्वितीय अवस्थासे तृतीय अवस्था और तृतीय अवस्थासे इस चतुर्थ अवस्थामें पहुंचकर साधक कैवल्यभोगी हो जाता है।

वैराग्य प्राप्त करने और वैराग्य-साधनकी उन्नति करनेके विषयमें आचार्य्यगणके मतभेद पाये जाते हैं। वैराग्य उत्पत्तिका कारण अनुसंधान करनेमें कोई तो भगवद्भक्ति, कोई पदार्थविचार और कोई सत्संगको ही प्रधान अवलम्बन करके स्वीकार करते हैं। कर्मके पक्षपाती आचार्य्यगण सत्संग अर्थात् साधुसंग द्वारा वैराग्यकी उत्पत्ति हुआ करती है ऐसा मानते हैं। भक्तिमार्गके आचार्यगण गौणी भक्ति द्वारा वैराग्यकी उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं। और ज्ञानके पक्षपाती आचार्य्यगण यह आज्ञा करते हैं कि वस्तुविचार द्वारा वैराग्यवृत्तिका उदय हुआ करता है। अपिच सूक्ष्मविचार द्वारा यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ये तीनों उपाय ही अपने अपने रूपमें वैराग्य उत्पादक हैं इसमें सन्देह नहीं। इस कारण यद्यपि वस्तुविचारसे ही दोषदृष्टि द्वारा मुमुक्षुको कामिनी काञ्चनरूपी विषयोंमें वैराग्य हुआ करता है, तथापि भक्ति और सत्संग भी वैराग्यवृत्तिकी वृद्धि करनेमें बहुत ही हितकारी हैं इसमें सन्देह ही नहीं। इस कारण मुमुक्षुगणके अर्थ वैराग्य भूमिमें अग्रसर होनेके लिये भगवद्भक्ति, साधुसङ्ग और सदा विषयरूपी मोहकारीपदार्थोंका स्वरूप विचार करना हितकारी है।

श्रीमद्भागवतमें कहा हैः—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य मत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥

महत्पुरुषोंके सङ्गमें रहनेसे हृदय और कर्णको परितृप्तकर आध्यात्मिक उन्नतिप्रद भगवत्कथा सदा ही होती रहती है जिसके फलसे शीघ्र ही श्रीभगवान्‌के प्रति श्रद्धा, रति और भक्तिका उदय होने लगता है । इस प्रकारसे सत्संग द्वारा भक्तिका उदय होकर संसार सम्बन्धीय विषयोंकी स्वरूपचिन्ता और स्वरूपपर विचार होनेसे साधकके चित्तमें दृष्ट और आनुश्रविक इन्द्रियविषयोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है जिससे वह साधक संसारको छोड़कर योगमार्गके अवलम्बनसे परमपदप्राप्तिके लिये उद्युक्त हो जाता है। अतः इन सब प्रमाणोंके द्वारा वैराग्यलाभार्थ, सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति और संसारस्वरूप विचार इन तीनोंकी ही आवश्यकता सिद्ध होती है।

अब संसारमें जीवाको क्यों वैराग्यप्राप्ति होती है और उसमें सहायक वस्तु कौन कौन हैं सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। विचार करनेसे सिद्ध होगा कि जीवके हृदयमें वैराग्यका उदय होना स्वतः-सिद्ध और अवश्यम्भावी है। केवल भिन्न भिन्न जीवोंमें प्राक्तन-संस्कारके तारतम्यानुसार वराग्यभावके उदय होनेमें समयका तारतम्य हो सकता है । यह विषय उपासनाविज्ञान अध्यायमें पहले ही प्रतिपादित किया गया है कि आनन्दमय परमात्माकी आनन्दसत्ता व्यापकरूपसे सकल जीवोंमें व्याप्त होनेके कारण जीवकी समस्त कर्मप्रवृत्ति इसी अन्तर्निहित आनन्द सत्ताकी

प्रेरणाके द्वारा होती है। अर्थात् अपने भीतर छिपी हुई यह परमानन्दसत्ता सदा ही जीवके हृदयमें आनन्द लाभ करनेकी इच्छाको उत्पन्न करती है और इसी इच्छाके कारण ही जीव आनन्दलाभके लिये कर्म करता है। उपनिषद्में लिखा है—

'यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति'

जब कोई काम करता है तो सुखके लिये ही करता है दुःखके लिये कभी नहीं करता है। प्रकृतिके साथ अभिमान युक्त आत्मा जिस वस्तुके प्रति उसका अनुकूल अभिमान उत्पन्न होता है उसी वस्तुमें सुख लाभ करता है। परन्तु प्रकृतिका वैषम्य ही सृष्टिका कारण होनेसे संसारमें एककी प्रकृतिके साथ दूसरेकी प्रकृतिका सम्पूर्ण मेल होना सृष्टि-नियम-विरुद्ध होनेके कारण सर्वथा असम्भव है। ऐक्य परिणामहीन आत्माके राज्यमें हो सकता है, परिणामिनी तथा वैषम्य युक्त प्रकृतिके राज्यमें पूर्ण एकता कभी नहीं हो सकती है। इसलिये सुखान्वेषी जीव यद्यपि स्त्री पुत्र आदिके साथ अपनी प्रकृतिकी एकताके लिये प्रयत्न करता है तथापि पूर्ण एकता उत्पन्न होना असम्भव होनेके कारण स्त्री पुत्र आदिके आत्माके अभिमानके साथ अपने आत्माके अभिमानका मेल ठीक ठीक नहीं होता है। इसलिये अपने आत्मापर जो सुखका विम्ब है उसका यथार्थ प्रतिबिम्ब स्त्री पुत्रादि प्रियवस्तुके आत्मा पर प्रकाशित नहीं हो सकता है। अतः बिम्ब और प्रतिबिम्बकी एकता न होनेसे प्रेम भी पूरा नहीं हो सकता है। इस कारण जीव संसारमें मुग्ध हो कर जितना ही प्रेम करता है सभीके साथ कुछ न कुछ अशान्ति और अप्रेमका बीज लगा हुआ रहता है और वही अशान्तिका बीज विचार और अभिज्ञता द्वारा सांसारिक सुखोंके तुच्छता बोधके साथ साथ वृक्षरूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें संसारके प्रति जीवका प्रबल वैराग्य उत्पन्न कर देता है। यही जीवके हृदयमें

संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न होनेका एक स्वतःसिद्ध और अवश्यम्भावी कारण है। वैराग्य उदय होनेका दूसरा कारण प्रकृति प्रतिबिम्बित आनन्दके साथ अन्तर्निहित साक्षात् चिदानन्दका पार्थक्य है। आनन्दमय परमात्माकी जो हृदयनिहित आनन्दसत्ता जीवको सुखके अन्वेषणके लिये कर्ममार्गमें प्रवृत्त करती है वह आनन्दसत्ता नित्य, अविनाशी, दुःखलेशहीन, असीम तथा साक्षात् चिदानन्द रूप है। इस प्रकार नित्यानन्द जीवको तभी मिल सकता है जब जीव अपनी समस्त वृत्तियोंको अन्तर्मुखीन करके, प्रकृतिसम्बन्धसे अपने आत्माको पृथक् करके परमात्मामें मग्न हो जाय। परन्तु सुखप्रयासी और सुखके लिये भीतरसे प्रेरणायुक्त जीव ऐसा न करके मायाके चक्रमें फँसकर त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें ही उस नित्यानन्दको ढूँढता रहता है और मायामय वस्तुमें ही नित्यानन्दकी भ्रान्तिको प्राप्त करता है। जब समस्त संसार आनन्दरूप परमात्माका ही विवर्त्त है तो यह बात निश्चय है कि प्राकृतिक वस्तुमें भी जो कुछ सुख है उसका भी कारण परमात्माकी नित्यानन्दसत्ता है। परन्तु भेद इतना ही है कि अन्तर्निहित आनन्दसत्ता प्रकृति-सम्बन्ध-विहीन होनेसे साक्षात् चिदानन्द है और प्राकृतिक तथा सांसारिक समस्त सुख प्रकृतिपर प्रतिबिम्बित आनन्दसत्तासे उत्पन्न होनेके कारण साक्षात् चिदानन्द न हो कर प्रतिबिम्बित आनन्द या छायासुख है। जिस प्रकार साक्षात् सूर्य्य या चन्द्रका प्रकाश और जलाशयमें प्रतिबिम्बित सूर्य्य या चन्द्रके प्रकाशमें भेद है, अन्तर्निहित साक्षात् चिदानन्द और बहिःप्रकृति प्रतिबिम्बित विषय सुखमें उतना ही भेद है। अन्तर्निहित आनन्द प्रकृतिराज्यसे अतीत होनेके कारण परिणामहीन और नित्य है परन्तु प्रकृतिप्रतिबिम्बित विषय सुख परिणामिनी प्रकृतिके परिणामके अनुसार प्राप्त होनेके कारण अनित्य, दुःखपरिणामी,

क्षणभङ्गुर, ससीम और छायासुखमात्र है। इन दोनोंकी वस्तुसत्तामें बहुत ही अन्तर है। क्योंकि साक्षात् दिवाकरके प्रखर प्रकाशमें जो भाव है जलाशयप्रकाशित दिवाकरके क्षीण चंचल प्रकाशमें वह भाव कहाँसे आ सकता है? अमृतमय आम्रफलके स्वाद-ग्रहणमें रसनेन्द्रिय और आत्माकी जो तृप्ति होती है, चित्रपटमें अङ्कित आम्रफल द्वारा वह कैसे उत्पन्न हो सकती है? परन्तु जब अन्तर्निहित नित्यानन्द सत्ता ही जीवको सुखान्वेषणार्थ कर्ममार्गमें प्रवृत्त करती है तो जीवकी पूर्ण शान्ति और आत्यन्तिक परितृप्ति तभी हो सकती है जब जीवको विषयमें भी उसके प्रेरक नित्यानन्द-की प्राप्ति हो। परन्तु विषय-सुख नित्यानन्दकी छायामात्र होनेसे विषयविलासके द्वारा जीवको नित्यानन्द मिलना असम्भव है इसलिये चाहे जीव कितना ही विषय-सुखमें मग्न हो जाय, जीवको विषय सेवाके द्वारा कभी पूर्ण शान्ति और आत्यन्तिक परि-तोष प्राप्त नहीं हो सकता है। स्पर्शमणिके दिव्य लाभके लिये जिनके हृदयकी पिपासा है मिथ्या प्रस्तरखण्डकी प्राप्तिसे उनका सन्तोष कैसे हो सकता है? हृदय व्यग्र है नित्यानन्दके लिये, प्राणकी पिपासा निसदिन बलवती होती है दुःखलेशविहीन ब्रह्मानन्दके लिये, जीव संसारचक्रमें घूमता है साक्षात् चिदानन्दके लिये, परन्तु भ्रममयी अविद्या जीवको नित्यानन्दके लोभसे भुलाकर संसार-जालमें फँसा कर अन्तमें दुःखपूर्ण, नित्यानन्दशून्य मिथ्या मृगजलमय विषय-कूपमें निमज्जित करके जीवको हृदयमें बद्धमूल आशाको आमूल विनष्ट कर देती है। तभी जीव विषय-सुखकी तुच्छता विषमय परिणाम और नित्यानन्दके साथ पार्थक्य विचार करके वैराग्य अवलम्बन करता है।

वैराग्यकी उत्पत्तिके प्रधान प्रधान कारण और वैराग्यदशाके चार भेद ऊपर वर्णन किये गये हैं। अब वैराग्य-उत्पत्तिका वैज्ञानिक

रहस्य कुछ कह देना उचित है। जगद्धारक धर्मकी अलौकिक गतिका रहस्य यह है कि जड़ पदार्थ क्रमशः तमकी ओर अग्रसर होकर पूर्ण तमोगुणको प्राप्त करता हुआ लयको प्राप्त होता है। परन्तु चेतन पदार्थ जीव क्रमशः तमोराज्यसे रजोगुणके राज्यमें, और रजोगुणसे सत्त्वगुणके राज्यमें अग्रसर होता हुआ पूर्ण सत्त्वगुणको प्राप्त करके अन्तमें तत्त्वातीत होकर मुक्त हो जाता है। अतः उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज जीव अपनी तमोमयी दशाको उल्लङ्घन करके जब मनुष्ययोनिको प्राप्त करते हैं उस समय मनुष्यभावापन्न जीवको रजः और सत्त्वका अधिकार प्राप्त होता है। जबतक मनुष्यको रजः और सत्त्वकी मध्यम दशा प्राप्त रहती है तबतक उसकी मनोवृत्ति इन्द्रियसुखमें ही फंसी रहती है परन्तु ऊर्द्ध्वगामी जीवकी गति स्वभावतः आत्माकी ओर होनेके कारण क्रमशः उसको सत्त्वराज्यका अधिकार मिलना स्वतःसिद्ध है। सत्त्वगुणका लक्षण शान्ति और ज्ञान है। अतः उन्नत मनुष्यको क्रमशः शान्तिप्रद और ज्ञानप्रद अधिकार मिलना स्वतःसिद्ध है। भाग्यवान् मनुष्य जैसे जैसे सत्त्वमय उन्नत अधिकारको प्राप्त करता जायगा, वैसे वैसे उसको विषयोंकी क्षणभङ्गुरता और वैषयिक सुखकी परिणामदुःखता अपने आप ही अनुभवमें आती जायगी। इस कारण उन्नत मनुष्यमें विषयवैराग्यका प्रकट होना स्वतःसिद्ध है। क्रमशः वह भाग्यवान् ज्ञानी व्यक्ति अध्यात्मराज्यमें जैसे जैसे अग्रसर होता जायगा वैसे वैसे उसको यथाक्रम मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य, अधिमात्र वैराग्य और परवैराग्यकी प्राप्ति होगी। फलतः मनुष्यत्वके उन्नत अधिकारमें वैराग्यकी उत्पत्ति होना स्वतःसिद्ध है। जिस मनुष्यने विषयोंकी क्षणभङ्गुरताका अनुभव नहीं किया है, जिस मनुष्यने वैषयिक-सुखकी परिणामदुःखताको जान नहीं लिया है, जिस मनुष्यने वैराग्यवृत्तिकी उत्कृष्टताका अनुभव नहीं किया है

उस मनुष्यका अधिकार अभी रजस्तमोभूमिका ही है ऐसा समझने योग्य है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंके विचारानुसार मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य और अधिमात्रवैराग्यकी दशाएँ रजःसत्त्वराज्यकी पहली दूसरी और तीसरी कोटिकी हैं और केवल परवैराग्यकी अवस्था सर्वोत्तम और शुद्ध सत्त्वगुणकी है इसमें सन्देह नहीं। यही संक्षेपसे वर्णित वैराग्यस्वरूप है।

प्राण और पीठतत्त्व।
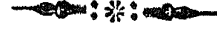
उपासनाके समस्त अङ्गोंका वर्णन करके जिस सूक्ष्म शक्तिके द्वारा दिव्य देशोंमें उपास्यका विकाश देखनेमें आता है उसका तत्त्व निर्णय किया जाता है। इस सूक्ष्म शक्तिका नाम प्राण है और जहाँ दैव प्राणका विकाश होता है उसको पीठ कहते हैं। 'प्राण' शब्दके कहनेसे सामान्यतः जो पञ्च स्थूल वायुओंमेंसे प्राणवायु है, वही प्राण है ऐसा विचार होने लगता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि प्राण नामक सूक्ष्म शक्ति स्थूल प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नामक पञ्च वायु और उनके विकाररूप धनञ्जय कृकरादि सब स्थूल-वायुओंकी सञ्चालक है, वह स्वयं स्थूल पदार्थ नहीं है; अति सूक्ष्म शक्ति मात्र है। स्थूल प्राण पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरका उपादान है और प्रत्येक शरीरमें सञ्चालकरूपसे अवस्थित सूक्ष्म प्राण सूक्ष्म शरीर-का उपादान है। यह अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्वोंके मिलित रजोंऽशसे उत्पन्न हुआ है, यही वेदान्तशास्त्रका सिद्धान्त है। यथा—

"एतेषां समष्टिराजसांशात्प्राणादिपञ्चवायवः सम्भूताः"

सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंके समष्टिराजसांशसे पञ्च प्राणकी उत्पत्ति होती है। एक ही प्राणशक्तिको पञ्चप्राण इसलिये कहा जाता है कि हृदय, नाभि, कण्ठ आदि पञ्चदेशमें अवस्थित पञ्च स्थूल प्राण अपानादि वायुओंको सञ्चालित करनेके लिये एक सूक्ष्म शक्ति प्राण भी पञ्चधा विभक्त होकर प्राणशक्ति, अपानशक्ति आदि नामसे हृदय, नाभि आदि पाँच स्थानोंपर प्रतिष्ठित है। यथा श्रुति—

"अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्य एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि"

प्राण ही अपनेको पञ्चधा विभक्त करके प्राणापानादि स्थूल

वायुओंके नियमन द्वारा शरीरको धारण करता है। यही सूक्ष्म शरीरके उपादानरूप स्थूल पञ्चवायुसञ्चालनकारी प्राणका स्वरूप है।

प्राणकी सूक्ष्म शक्तिके विशेष ज्ञानमें असमर्थ होनेपर भी अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूलजगत्के सञ्चालनमूलमें जो एक सर्वव्यापिनी सूक्ष्म शक्तिका समावेश और उसी सूक्ष्म शक्तिके घनी भाव द्वारा ही स्थूल जगत्की सृष्टिका क्रम माना है सो उल्लिखित सूक्ष्म प्राणशक्तिका ही स्थूल विकाशमात्र है अर्थात् पाश्चात्य दर्शनशास्त्रसमूह केवल प्राणमयी सूक्ष्म जगत्की शक्तिविशेष तक अनुभव कर सके हैं; आगे नहीं जा सके हैं। पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार परमाणुसंघातसे सृष्टि और परमाणुओंके विश्लेषणसे मूर्त्त वस्तुओंका ध्वंस होकर प्रलय—ये दोनों परिणाम ही उल्लिखित स्थूलपदार्थान्तर्गत सूक्ष्म शक्तिके आविर्भाव तिरोभावके अधीन हैं। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित हर्वर्ट स्पेन्सरने उसी सूक्ष्म शक्तिके दो रूप वर्णन किये हैं। एक जड़रूप और दूसरा जड़रूपके आश्रयसे विविध क्रियाकारी जड़ान्तर्गत सूक्ष्मरूप। पाश्चात्य वैज्ञानिक पण्डितोंके मतानुसार समस्त स्थूल जड़वस्तु ही सूक्ष्म शक्तिका रूपान्तरमात्र है। उनके मतमें स्पन्दनात्मिका सूक्ष्मशक्ति ही स्पन्दित होती होती घनीभावको धारण करके स्थूल होजाती है। लार्ड केल्विन आदि कई एक आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानवित् पण्डितोंका यह सिद्धान्त है कि मूर्त्त पदार्थोंके उपादानभूत परमाणुसमूह सर्वव्यापी तरल पदार्थ 'ईथर' (Ether) का ही आवर्त्तनपरिणाम मात्र है और इसी ईथर सम्बन्धीय विज्ञानको सूक्ष्मतर दृष्टिसे देखकर हर्वर्ट स्पेन्सर, स्टैलो आदि कई एक पण्डितोंने यह सिद्धान्त किया है कि, वही शक्ति जो सूक्ष्मावस्थामें दृष्टिपथमें नहीं आती है, स्थूलावस्थामें देखनेमें आजाती है और अमूर्त्त अवस्थामें जो शक्ति केवल क्रियात्मिकारूपसे अनुमान की जाती है, वही शक्ति मूर्त्तावस्थाको

प्राप्त होकर क्रियात्मक और जड़ात्मक दोनों ही भावोंमें उपलब्ध हो जाती है—यह सब उल्लिखित घनीभाव विज्ञानका ही फलमात्र है। प्रत्येक स्थूल वस्तुको ही हम लोग करणात्मक और कार्यात्मक दोनों भावोंमें सम्मिलित देखते हैं। अग्नि, विद्युत् आदि स्थूल पदार्थोंमें करणात्मक अंशका प्राधान्य तथा जलीय और पार्थिव पदार्थोंमें कार्यात्मक या जड़भावका प्राधान्य है। सूक्ष्मावस्थासे स्थूलभावमें आते समय शक्ति और शक्तिके आश्रयरूप जड़ांशका घनीभाव होना आवश्यक है। इसलिये प्रत्यक्ष शक्तिको हम जड़ोपादानके आश्रयसे ही कार्य करती देखते हैं परन्तु जिसको जड़ोपादान कहते हैं वह भी सूक्ष्म शक्तिका ही आकारभेदमात्र है। पाश्चात्य पण्डित स्टैलो साहबका यह सिद्धान्त है कि कार्यकारिणी शक्ति क्रियारहित दशामें प्रसुप्तभावसे (Dormant) रहती है और यही प्रसुप्ता शक्ति कार्यदशामें स्पंदिता होकर प्रत्यक्ष वस्तुरूपमें परिणत हो जाती है, उस समय शक्तिकी करणात्मक और कार्यात्मक दो दशाएँ हो जाती हैं। इसी शक्तिको किसी किसी पाश्चात्य पण्डितने दिव्याग्नि (Divine fire) कह कर इसीसे स्थूलजगत्की उत्पत्ति बताई है।

इससे आगे पाश्चात्य पण्डित हल्मन् साहबने यह भी अनुमान किया है कि समष्टि और व्यष्टि जगत्में जितनी कार्यकारिणी शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं वे सभी एक मौलिक महाशक्तिकी रूपान्तरमात्र हैं। उनके मतानुसार क्रियमाण प्रवृत्तिशक्ति, माध्याकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, स्थितिस्थापक प्रवृत्तिशक्ति, आणविक आकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, रासायनिक प्रवृत्तिशक्ति, ताडित् प्रवृत्तिशक्ति, चौम्बकाकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, ये सभी एक मौलिक महाशक्तिके भिन्न भिन्न प्रकारके स्पन्दन द्वारा भिन्न भिन्न भावमें विकाशमात्र हैं। हर्बर्ट स्पेन्सरने शक्तिकी क्रियाकारिणी और प्रसुप्तावस्थाके भेद बताते समय इसी

विश्वव्यापिनी मौलिक महाशक्तिका उल्लेख करके अन्तमें कहा है कि 'समस्त दृश्य विकारके मूलमें इस प्रकारकी एक महाशक्तिका होना निश्चय है किन्तु वह महाशक्ति इन्द्रियातीत और परमसूक्ष्म होनेसे जानी नहीं जा सकती है।' प्राचीन पूज्यपाद महर्षिगण-प्रणीत आर्यशास्त्रोंकी यही महिमा है कि हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे धीशक्ति-सम्पन्न पण्डितोंने अप्राप्य कहकर जहाँपर छोड़ दिया है वहींसे प्रारम्भ करके पूर्ण प्रज्ञा द्वारा उसी महाशक्तिका पूरा पता लगाकर मुमुक्षुजनोंके लिये उन्होंने उसे स्पष्ट बता दिया है। प्रोफेसर वार्थेजने भी स्थूल शारीरिक और रासायनिक शक्तियोंसे इस सूक्ष्मशक्तिका भेद बताकर हर्बर्ट स्पेन्सरके द्वारा आविष्कृत विज्ञान-की प्रतिध्वनि की है। पाश्चात्य पण्डित वायकार्ड् साहबने अनु-सन्धान द्वारा निर्द्धारित किया है कि वही शक्ति 'जीवनीशक्ति-के नामसे जीवोंकी पेशियोंमें रहती है और पण्डित लियोनेल साहबने जीवोंकी उत्पत्तिके उपादानस्वरूप प्रोटोप्लाजम् (Protoplasm) विज्ञानके साथ इसी जीवनीशक्तिका सम्बन्ध बताया है। इस प्रकार विचारके सूत्रका आश्रय करके अन्तमें आस्तिक पाश्चात्य पण्डित वालेस साहबने 'जगत्सञ्चालिनी समस्त सूक्ष्मशक्तिके मूलमें श्रीभगवान्की इच्छाशक्ति ही विद्यमान होगी' ऐसा अनुमान करके आस्तिकताका परिचय प्रदान किया है। उन्होंने कहा है—"यदि यह बात ठीक है कि शक्ति ही स्थूलजगत्में अन्तर्निहित होकर समस्त कार्यको कर रही है तो प्रश्न यह होता है कि वह शक्ति क्या वस्तु है? इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें कहना पड़ेगा कि मौलिक-रूपसे अभिन्नताप्राप्त दो शक्तियाँ संसारमें विद्यमान हैं। उनमेंसे एक शक्ति आकर्षण, विकर्षण, माध्याकर्षण, तडित् आदि रूपसे दृश्य संसारमें प्रकाशमान है और दूसरी शक्तिके विषयमें विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि सबकी मूलभूत वह भगवान्की

इच्छाशक्ति ही है।" इस प्रकारसे अनुमान द्वारा अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूल और सूक्ष्म शक्तिपर विचार किया है परन्तु किसीके द्वारा भी इस महाशक्तिका अनुभव ठीक ठीक निश्चित नहीं हुआ है। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि पण्डितोंने तो उसे 'अनधिगम्य' (incomprehensible) कह कर छोड़ ही दिया है और वालेस, आदिने कुछ कुछ आस्तिकतामूलक अनुमान करनेपर भी उसके अस्तित्वके विषयमें 'यदि' ही रक्खा है। अतः उल्लिखित प्रमाणोंके द्वारा यह विषय सिद्ध होता है कि पाश्चात्य पण्डितोंने 'शक्तिविज्ञान' के विषयमें अनेक गवेषणाका परिचय देनेपर भी उनमें योगसुलभ ऋतम्भरा प्रज्ञाका अभाव होनेसे उनकी सारी गवेषणाएँ अनुमान और संशययुक्त हैं। अब नीचे सूक्ष्मदर्शी पूज्यपाद महर्षियोंने इस प्राणशक्तिके विषयमें निज अनुभावोंके द्वारा क्या क्या सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं सो क्रमशः बताये जाते हैं।

पूज्यपाद महर्षियोंके विस्तृत मताका वर्णन तथा हमारे शास्त्रोक्त स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीयरूपी चतुर्विध शक्तिका विस्तारित वर्णन तन्त्रशास्त्रमें प्राप्त होता है। उन्हीं स्थूलशक्ति, सूक्ष्म शक्ति, कारण-शक्ति और तुरीयशक्तिरूपिणी विश्वजननी महाशक्तिके चतुर्विध अङ्गोंमेंसे केवल स्थूल शक्ति और सूक्ष्म शक्ति इन दोनों विभागोंको ही पश्चिमी दार्शनिकगण समझ सके हैं और कारणशक्ति तथा तुरीय शक्तिका वे कुछ भी पता अभी तक नहीं लगा सके हैं यह स्वतः ही सिद्ध होता है। इस अध्यायमें जो प्राणतत्त्व और पीठतत्त्वका वर्णन किया गया है उसका भी सम्बन्ध केवल प्राणमय कोषसे ही है अर्थात् इस अध्यायका सब विषय सूक्ष्म शक्ति और स्थूल-शक्तिसे ही सम्बन्ध रखता है। इस सिद्धान्तपर ध्यान रखकर पाठकोंको प्राणतत्त्व और पीठतत्त्वका रहस्य समझना उचित होगा। यहाँ यह भी समझने योग्य है कि प्रपञ्चमयी सृष्टिके जो

पांच कोष हैं, यथा-अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष, इन पाचों कोषोंमेंसे केवल अन्नमय कोष और प्राणमय कोषकी जो शक्तियाँ हैं उन्हींको केवल पाश्चात्य विद्वान्‌गण देख सके हैं।

प्रथमतः हर्वर्ट स्पेन्सर आदि पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने प्राणशक्तिको दो भागोंमें विभक्त करके 'घनीभूत बाह्यप्राण ही जड़ वस्तु है और तदन्तर्गत सूक्ष्म प्राण उसका सञ्चालक है' ऐसा जो कहा है उसीके अनुरूप आर्यशास्त्रमें भी प्रमाण मिलता है। सृष्टितत्त्वके विज्ञानपर संयम करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी इस प्रकारसे क्रमानुसार तत्त्वोंका आविर्भाव सूक्ष्मशक्तिके घनीभाव द्वारा स्थूलता-प्राप्तिका ही परिचायक है। परमात्माकी शक्तिरूपसे जो प्रकृति प्रकट होती है वह अव्यक्तावस्थामें अतिसूक्ष्म शक्तिरूपा है। परन्तु परिणामविधिके अनुसार वही सूक्ष्मशक्ति क्रमशः पञ्चीकरण द्वारा घनीभावको प्राप्त होकर स्थूलविश्वके आकारको धारण कर लेती है और उसी स्थूल-विश्वके मध्यमें भी सञ्चालिनी सूक्ष्मशक्तिरूपसे उसी शक्तिका एक भाग विराजमान रहता है। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रानुमोदित समस्त सृष्टि क्रिया ही शक्तिका विलासमात्र है। श्रुतिमें

'अग्निसोममयं जगत्'

समस्त संसार शक्ति और अन्नमय है ऐसा कहकर उल्लिखित विज्ञानको ही स्पष्ट किया है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने इसी शक्तिविज्ञानको परिस्फुट करनेके लिये बृहदारण्यकभाष्यमें लिखा है:—

सर्व एव द्विप्रकारः। अन्तःप्राण उपष्टम्भको गृहस्येव स्तम्भादि-लक्षणः प्रकाशकोऽमृतः बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशकः उपजनापाय-धर्मकस्तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येवासत्यशब्दवाच्यो मर्त्यः।

तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्चाच्छन्नः । स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेषु अनेकधा विस्तृतः ।"

विश्वसंसारके समस्त पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। एक अन्तरांश और दूसरा बाह्यांश। अन्तरांशका नाम प्राण है और बाह्यांशका नाम जड़ है। प्राणांश गृहके स्तम्भादिकोंकी तरह बाह्यांशका धारक है, वह प्रकाशक अमृत और अविनाशी है, जड़ बाह्यांश कार्यलक्षण, प्रकाशहीन और उत्पत्तिविनाशशील है। वह गृहके तृणमृत्तिकादिकी तरह असत्पदवाच्य और भौतिक है। इसी भौतिक जडांशके द्वारा सूक्ष्म प्राणांश आच्छन्न रहता है। सूक्ष्म प्राणांश पुनः बहिराधारोंके भेदसे अनेकधा विस्तृत है। प्राणांश करणात्मक और जड़ांश कार्यात्मक है। अन्यपक्षमें "अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" अर्थात् रथनाभिमें अरा (आरा) की तरह प्राणके द्वारा ही समस्त अन्नमय स्थूलजगत्‌की प्रतिष्ठा है ऐसा कहकर श्रुतिने प्राणके द्वारा भी अन्नका पोषण होना है, यह विज्ञान सिद्ध किया है। अतः सिद्धान्त यह निकला कि अग्नि और सोम या प्राणांश और जडांशमें परस्परापेक्षित्व विद्यमान है। सम्भव है कि पाश्चात्य दर्शनोंमें स्थूलपदार्थको मैटर (Matter) और प्राणको फोर्स (Force) कहकर इसी प्रकारसे दोनोंके परस्परापेक्षित्व सम्बन्धका अनुमान किया है और इसी फोर्सके आविर्भाव तिरोभावके अनुसार स्थूलपदार्थगत आणविक आकर्षण-विकर्षणका तारतम्य निर्द्धारित किया है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने भी बृहदारण्यकभाष्यमें इस विज्ञानको प्रतिपादित करके कहा हैः—

"कार्यात्मके नामरूपे शरीरावस्थे
क्रियात्मकस्तु प्राणस्तयोरुपष्टम्भकः"

कार्यात्मक जड़ पदार्थ नाम और रूपके द्वारा स्थूल शरीरको

आश्रय करता है और करणात्मक सूक्ष्म प्राण उसका धारक है। अतः प्राच्य और प्रतीच्य दर्शनोंके सम्मिलित मतानुसार यह सिद्धान्त निर्णय हुआ कि जड़ पदार्थ सूक्ष्मशक्तिका ही घनीभावमात्र है और सूक्ष्म प्राणशक्ति इसी घनीभूत जड़पदार्थको आधार बना कर उसीके बीचमें प्रच्छन्न रहकर समस्त जड़जगत्‌की परिचालना किया करती है त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी योगशक्तिके द्वारा सूक्ष्मजगत्‌के प्राणमय, मनोमय, विज्ञनामय और आनन्दमय कोषोंका जो विस्तृत स्वरूप वर्णन किया है उनमेंसे प्राणमय कोषका कुछ स्वरूप इस तरहसे पश्चिमी दार्शनिक पण्डितगण अनुभव करनेमें समर्थ हुए हैं।

अब परमात्मकी इच्छाशक्तिसे समष्टि और व्यष्टिगत विश्व-विधात्री प्राणशक्तिकी उत्पत्तिका विज्ञान प्रतिपादित किया जाता है। छान्दोग्यश्रुतिमें लिखा है, यह विश्व संसार सङ्कल्पका ही परिणाम मात्र है। यथाः—

"तानि ह वैतानि सङ्कल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशश्च समकल्पतामापश्च तेजश्च"

समस्त दृश्य जगत् संकल्प अर्थात् परमात्माकी इच्छाशक्तिके द्वारा ही उत्पन्न होता है। द्युलोक, पृथ्वीलोक, वायु, आकाश, अग्नि, जल आदि समस्त ही उनकी सङ्कल्पमूलक इच्छाशक्तिके द्वारा प्रकट हुए हैं।

'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्' 'कामस्तदग्रे समवर्त्तत'

इत्यादि श्रुतिओंके द्वारा भी दृश्य प्रपञ्चका विस्तार परमात्माकी इच्छाशक्तिसे ही होता है, ऐसा सिद्ध होता है। महाप्रलयानन्तर सृष्टिके प्राक्कालमें पूर्वकल्पानुसार इस प्रकारसे सृष्टिकी स्वतः इच्छा उत्पन्न होनेसे ही प्राणशक्तिका विकाश होता है, जिसके अनन्तर

पाञ्चभौतिक स्थूल सृष्टिका परिणाम होता है। अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि समष्टिदृश्य संसारके विकाशके मूलमें प्राणशक्ति ही कारणरूप है जिसकी उत्पत्ति परमात्माके सृष्टिसंकल्प द्वारा होती है। विशेषतः स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध प्राणमय कोषके द्वारा ही होता है, यह तो स्वतःसिद्ध है। इसीलिये श्रुतिमें प्राणके साथ परमात्माका घनिष्ठ सम्बन्ध बतानेके लिये कहा गया है:—

"स ईक्षांचक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि
कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत"

'किसके रहनेसे मैं रह सकता हूं और किसके निकल जानेसे मैं निकल जाऊँगा' ऐसा सोचकर परमात्माने प्राणकी सृष्टि की। अतः परमात्माके साथ प्राणका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है; यह सिद्ध हुआ। श्रीभगवान्के सङ्कल्पसे उत्पन्न इसी ब्रह्माण्डव्यापिनी सूक्ष्मप्राणशक्तिके प्रतापसे सृष्टिदशामें पञ्चीकरणविधिके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि स्थूल पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इसी सूक्ष्म समष्टिप्राणशक्तिकी प्रेरणासे अणु-परमाणुके अन्तर्गत आकर्षणशक्तिके प्रबल होनेसे सृष्टिकालमें परमाणुसमष्टि द्वारा स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है और इसी सूक्ष्म समष्टिप्राणशक्तिकी प्रेरणासे अणु परमाणुओंके अन्तर्गत आकर्षण और विकर्षण शक्तिके सामञ्जस्य द्वारा ब्रह्माण्डकी स्तिथिदशामें सूर्य-चन्द्रसे लेकर समस्त ग्रह उपग्रह आदियोंकी निज निज कक्षामें नियमित स्थिति और समस्त जड़ पदार्थ कठिन, तरल अथवा वायवीयरूपमें निज निज प्रकृतिके अनुसार अवस्थित रह सकते हैं। इस प्रकारसे समष्टिब्रह्माण्डकी सृष्टि तथा स्थितिक्रियाके मूलमें सूक्ष्म प्राणशक्ति निहित है और उसीकी नियामिका शक्तिके प्रभावसे सुजला, सुफला, वसुन्धरा श्रीभगवान् परमात्माकी अलौकिक महिमाको प्रकट कर

रही है। दृश्यप्रपञ्चके व्यष्टिभावमें विकाशके साथ साथ यही समष्टि-प्राणशक्ति पञ्चप्राणरूपमें प्रत्येक जीवके शरीरमें विस्तारको प्राप्त हो जाती है और क्रियाभेद तथा स्थानभेदानुसार प्राण, अपान, समान आदि नामोंको धारण करके समस्त स्थूलशरीरोंकी रक्षा और परिचालना करती है और यही सूक्ष्म प्राणशक्ति विविध परिणामको प्राप्त होकर विश्वके भीतर अन्तर्निगूढ़ नाना तेजरूपमें प्रकाशित होती है। यथा ऋग्वेदमें:—

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप् स्वायजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थतेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥

द्युलोकमें जो तेज है, पृथिवीमें जो तेज है, ओषधिसमूहमें जो तेज है, अरणिकाष्ठ तथा वनस्पति आदिमें जो तेज विद्यमान है, जलमें जो उव नामक तेज है और अन्तरीक्षमें जो तेज व्याप्त है ये सभी परमात्मासे उत्पन्न शक्तिके विविध विकाशमात्र हैं। और भी ऋग्वेदमें:—

"अप्स्वग्ने सधिष्टरसौषधीरनुरुध्यसे, गर्भे सञ्जायसे पुनः।"

जो शक्ति जलमें प्रवेश करती है, वही पुनः ओषधिके भीतर समाविष्ट होती है और वही पुनः गर्भमें उत्पन्न होती है। इन सब शक्तियोंका मूलकारण क्या है इसके उत्तरमें प्रश्नोपनिषद्में कहा है:—

"भगवन् कुत एष प्राणो जायते ? आत्मन एष प्राणो जायते।"

परमात्मासे ही प्राणशक्तिकी उत्पत्ति होती है जो स्थूल सूक्ष्म समस्त संसारमें उल्लिखितरूपसे विस्तृत हो जाती है। और भी केनोपनिषद्में—

"स उ प्राणस्य प्राणः"

वे प्राणके भी प्राण हैं क्योंकि प्राणकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है। प्रकृति और पुरुष दोनोंके सम्बन्धसे सृष्टि प्रकट होती है।

जिनमेंसे पुरुषको निर्लिप्त, निःसङ्ग और निष्क्रिय कहा है और प्रकृति ही परिणामिनी और जगत्की सृष्टिस्थितिलय करनेवाली है ऐसा कहा है। प्रकृति जब पुरुष अथवा ब्रह्ममें विलीन रहती है वही प्रकृतिकी तुरीयावस्था है। उस अवस्थाके विषयके साथ प्रकृत विषयका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण प्रकृतिकी तुरीयावस्था साम्यावस्था भी कहाती है। आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय इन पांच कोषोंमेंसे अन्नमय कोषका सम्बन्ध-रयि अर्थात् मूर्त्त पदार्थोंके साथ है। दूसरी ओर आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष और मनोमय कोषोंका सम्बन्ध क्रियाशील अवस्थासे अतीत है और केवल प्राणमय कोष ही क्रियाशील होनेसे उसीके साथ प्राणका सम्बन्ध है। इस विषयको और भी दूसरी तरहसे समझा जा सकता है कि शक्तिके चार भेद जो पहले कहे गये हैं उनमेंसे तुरीयशक्तिका सम्बन्ध पुरुषके अर्थात् ब्रह्मके साथ और स्थूलशक्तिका सम्बन्ध अन्नमय कोषके साथ है। कारण शक्तिका सम्बन्ध आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष और मनोमय कोषके साथ है। केवल सूक्ष्मशक्तिका ही सम्बन्ध प्राणमयकोषके साथ है। प्राणमयकोषकी प्राणशक्ति ही सूक्ष्मजगत् और स्थूलजगत्का सम्बन्ध मिलाती है। समष्टि और व्यष्टि प्राण ही सूक्ष्म दैवराज्य और स्थूल स्थावरजङ्गमात्मिका सृष्टिकी रक्षा करता है और उसका सब कार्य यथावत् चलाता है। प्राणमय कोषकी सहायतासे ही जीव जन्म लेता है और जीवित रहता है तथा मृत्युको प्राप्त होकर नाना प्रकारके लोकोंमें जाकर सदसत् फल भोग करता है। क्रियाका जितना सम्बन्ध है सो सब प्राणमयकोषमें ही है ऐसा कहा जा सकता है। प्राण ही शक्तिका प्रधान विकाशस्थल है। प्राणकी इस प्रकार धराधारिणी शक्तिके विषयमें छान्दोग्य श्रुतिमें भी लिखा है:—

"यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।"

जिस प्रकार रथचक्रकी नाभिके ऊपर समस्त चक्रदण्ड (आरा) स्थित रहते हैं उसी प्रकार प्राणके ऊपर ही समस्त विश्व संस्थापित रहता है, प्राणके आश्रयसे ही संसारमें प्राणक्रिया होती है, प्राणका आदान प्रदान प्राणशक्तिके ही प्रभावसे होता है, प्राण ही पिताकी तरह विश्वजनक, माताकी तरह विश्वपालक, भ्राताकी तरह विश्वकी समता विधानकारी, भगिनीकी तरह विश्वके भीतर स्नेहसञ्चारकारी, आचार्यकी तरह विश्वनियन्ता और ब्राह्मणकी तरह विश्वपवित्रकर है। यही सब श्रुतिकथित प्राणशक्तिकी परम महिमा है।

जिस प्रकार सम्राट् निज अधीनस्थ कर्मचारियोंको भिन्न भिन्न ग्राम या नगरोंमें प्रतिष्ठापित करके उनके द्वारा तत्तत्स्थानोंका शासन कार्य सम्पादन कराते हैं उसी प्रकार समष्टि प्राण भी अपने अंशसे उत्पन्न इतर प्राणोंको जीव शरीरके भिन्न भिन्न स्थानोंमें प्रतिष्ठापित करके जीव देहके आवश्यकीय विविध कार्योंका परिचालन कराते हैं। अपान पायु और उपस्थदेशमें रहकर कार्य करता है, प्राण चक्षु श्रोत्र और मुखनासिकामें रहकर दर्शन श्रवणादि कार्य करता है, समान नाभिदेशमें रहकर भुक्त अन्नोंका समताविधान करता है, इस प्रकार सप्त ज्वालामें व्याप्त होकर प्राण ही भिन्न भिन्नरूपसे समस्त कार्य करते हैं। हृत्पुण्डरीकमें आत्माका स्थान है। वहांपर १०७ प्रधान नाडियां (Minute nerves) हैं। इन प्रधान नाडियोंमें प्रत्येकके पुनः सौ सौ भेद हैं। पुनः उनके ७२००० भेद हैं। इस प्रकारसे हृदय देशसे हजारों नाडियाँ समस्त शरीरमें व्याप्त हैं। इन

सभोंमें सूर्य्यसे रश्मियोंकी तरह व्यानका सञ्चार रहता है। सन्धि-स्थान, स्कन्धदेश, मर्मस्थान और विशेषतः प्राणापान वृत्तिके बीचमें व्यानका विशेष कार्य रहता है। इन सब नाडियोंमेंसे जो ऊर्द्ध्वगामी सुषुम्ना नाड़ी है उसके द्वारा ऊँचा होकर उदान पादतलसे मस्तक पर्यन्त विस्तृत होकर जीवोंको पुण्यकर्मानुसार स्वर्गादि पुण्यलोकोंमें पापकर्मानुसार नरकादि पाप लोकोंमें और समभावापन्न कर्मानु-सार मनुष्य लोकमें ले जाता है। इस प्रकारसे समष्टि और व्यष्टि समस्त जगत्में प्राणकी धराधारिका शक्ति कार्य करती है जिसके प्रभावसे अनादि अनन्त विश्वसंसारकी सर्गस्थितिक्रिया यथानियम समष्टि कर्मानुसार सञ्चालित हुआ करती है।

अब प्राण किस प्रकारसे सूक्ष्म राज्यके साथ स्थूल राज्यका सम्बन्ध स्थापन करता है उसका कुछ विस्तारित विज्ञान कहा जाता है। सूक्ष्म राज्य दैवराज्यको कहते हैं और स्थावर जङ्गमात्मक यह परिदृश्यमान संसार स्थूलराज्य है। समष्टि जगत्में सूक्ष्मराज्यका विस्तार मनोमय कोषसे आनन्दमय कोष तक है। सर्वोत्तम आनन्द-मय कोषके साथ ही विष्णुलोक शिवलोक आदि उन्नत लोकोंका सम्बन्ध है। अन्नमय कोष ही स्थूल संसार है और यह हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि प्राणमय कोष ही स्थूल और सूक्ष्मको मिलाने वाला है। स्थूल अन्नमय कोषमें जब सूक्ष्म दैवराज्यका सम्बन्ध स्थापन किया जाता है तब अन्नमय कोषमें जो देवताओंके ठहरनेके उपयोगी आसन या आधार बन जाता है उसको पीठ कहते हैं। पीठ प्राणमय ही है।

प्राणशक्तिकी साधारणतः दो दशाएँ होती हैं। एकको आकर्षण-शक्ति कहते हैं और दूसरीको विकर्षणशक्ति। आकर्षणशक्ति अपनी ओर खींचती है और विकर्षणशक्ति दूसरी ओर हटाती है। जगत्की इन दोनों शक्तियोंको पश्चिमी विद्वानोंने भी अनुभव किया है।

पश्चिमी विज्ञानमें इन दोनों शक्तियोंको Attraction एवं Repulsion कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्डमें और सब पिण्डोंमें ये दोनों शक्तियाँ परिव्याप्त हैं। आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंके सामञ्जस्यका ही यह फल है कि सब ग्रह नक्षत्र आदि अपने अपने कक्षमें स्थित रहते हैं। इन दोनों शक्तियोंके समानरूपसे स्थापित होनेसे जो आवर्त्त (Circle) बनता है उसीको पीठ कहते हैं। एक ग्रह जब सूर्य्यके द्वारा आकर्षित और विकर्षित होकर अपने ही आकर्षण और विकर्षणकी सहायतासे आवर्त्त बना लेता है उसी आवर्त्तको उस ग्रहका पीठ समझना उचित है और उस ग्रहके अधिष्ठाता देवताका अधिकार उसी आवर्त्त तक विस्तृत होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि वृहस्पति ग्रहने इसी आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी सहायतासे जो एक कक्ष बना लिया है जितनी दूरमें वह कक्ष विस्तारको प्राप्त हुआ है वहां तक वृहस्पति देवका पीठ समझा जायगा। जिस प्रकार मनुष्य विना पृथ्वीरूपी आधारके न बैठ सकता है और न खड़ा रह सकता है, उसी प्रकार सूक्ष्म राज्यस्थित देवतागण विना पीठके ठहर नहीं सकते। इसी सिद्धान्तके अनुसार मन, मन्त्र आदिकी सहायतासे सोलह प्रकार दिव्य देशोंमें समष्टि आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी सहायतासे पीठ स्थापनपूर्वक देवताओंका आह्वान किया जाता है। सोलह प्रकारके दिव्यदेश क्या क्या हैं सो मन्त्रयोग नामक अध्यायमें पहले ही बताया गया है। पीठ जितना पवित्र और प्रबल होता है उसी प्रकारके उन्नत देवता उस पीठमें आह्वान किये जा सकते हैं और जब तक मूर्त्ति आदिमें उक्त प्रकार पीठ वर्त्तमान रहता है तब तक दैवजगत्की कला भी उक्त मूर्त्ति आदि दिव्यदेशमें प्रकाशित रहती है। इस प्राणावर्त्तरूपी पीठके समझनेके लिये इस प्रकारका उदाहरण देना ठीक होगा कि यदि दो पदार्थ ऐसे आमने सामने रक्खे

जायँ कि दोनोंमें आकर्षण और विकर्षण शक्ति विद्यमान हो तो एक का आकर्षण दूसरेको खींचेगा और दोनोंकी विकर्षणशक्ति दोनोंको धक्का देगी। इस प्रकारसे दोनोंकी आकर्षणशक्ति और दोनोंकी विकर्षणशक्ति परस्परमें मिलकर एक चक्राकार आवर्त्त (circle) प्राणमय कोषमें बन जायगा। उसी प्राणावर्त्तको पीठ कहते हैं और वह आवर्त्त अर्थात् पीठ देवताओंके ठहरनेका स्थान होगा। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तकी सहायतासे नित्य और नैमित्तिक देवताओंका पीठ बनाकर उनकी स्थापना की जाती है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त-के अनुसार पृथिवी भरमें नाना पीठस्थान और तीर्थादिका आवि-र्भाव आर्यशास्त्रोंमें माना गया है।

इस प्रकारके दैव पीठकी सहायतासे इस संसारमें सब दैवकार्य सम्पादित होते हैं। स्त्री पुरुषके सम्बन्धसे जो गर्भाधान होकर स्त्रीके गर्भमें एक दूसरे जीवकी उत्पत्ति होती है, वह भी इसी प्रकारके दैव पीठकी सहायतासे ही हुआ करता है। जगदुत्पादक कामकी स्वाभाविक प्रेरणा द्वारा गर्भाधानकालमें स्त्री और पुरुषके अन्तःकरणमें तन्मयता आजाती है और इस प्रकारसे उभयके शरीर-की आकर्षण और विकर्षण शक्ति द्वारा प्रथम तो दोनोंके शरीरव्यापी पीठकी उत्पत्ति होती है और पुनः पुरुषकी आकर्षण शक्ति परास्त हो जानेपर स्त्रीगर्भमें पीठकी स्थापना हो जाती है।

पीठका आविर्भाव होते ही देवतागण और जन्म लेनेकी उप-योगी आत्माएँ वहां खिची आती हैं। देवतागण उन आत्माओंके प्रेरक होते हैं। अनेक स्थानोंमें देवतागण पीठकी पवित्रताके कारण स्वाभाविकरूपसे आकृष्ट होते हैं क्योंकि पीठ देवताओंके विश्रामका स्थान होनेसे इस प्रकारका आकर्षण स्वतः सिद्ध है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धजनित पीठमें अनेक आत्माएँ खींची जाती हैं परन्तु जिस आत्माके कर्मके साथ उक्त गर्भका कर्मसम्बन्ध है

वही आत्माएँ उस नारीगर्भमें ठहर जाती हैं और बाकी आत्माएँ तथा देवतागण स्व स्व स्थानपर लौट जाते हैं। यही कारण है कि हमारे शास्त्रमें गर्भाधान संस्कार सबसे आदि संस्कार माना गया है और यही कारण है कि पूज्यपाद महर्षियोंने धर्मविरुद्ध कामसम्बन्धका सर्वथा निषेध किया है।

जिस प्रकार देवता आदियोंके आविर्भाव करनेके लिये शास्त्रोक्त मन्त्र आदिकी सहायतासे उपासक और देवताके अन्तरात्माकी आकर्षण और विकर्षणशक्तिके समन्वय द्वारा सोलह दिव्यदेशोंमें दैवी पीठकी उत्पत्ति होकर देवताओंका उस पीठमें आविर्भाव हो जाता है उसी प्रकार और भी अनेक प्रकारसे पीठकी उत्पत्ति होती है। भेद इतना ही है कि यदि पीठकी पवित्रताकी रक्षा न की जाय तो पीठमें निम्नश्रेणीके देवता या प्रेत आदि उपदेवताके सम्बन्ध हो जानेसे पीठकी कार्यकारिता नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि यज्ञादि कर्मकाण्डोंमें और उपासनाके विभिन्न साधनोंमें दिक्‌बन्धकी आवश्यकता होती है, अर्थात् इसी भयसे यज्ञभूमिकी दसों दिशाओंमें दैवीरक्षकोंका अविर्भाव करके पीठकी सुरक्षाके लिये दिक्‌बन्ध किया जाता है। दिक्‌बन्ध करनेसे उक्त प्रकारके क्षुद्र देवता या उपदेवता अपने क्षुद्र स्वभावके अनुसार यज्ञादिमें विघ्न नहीं डाल सकते हैं।

जिस प्रकार बुद्धितत्त्वमें प्रधानतः दो प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं—एक मनके अवलम्बनसे बुद्धिका कार्य और दूसरा केवल बुद्धिके प्राधान्यसे बुद्धिका कार्य; इसी कारण बुद्धिके दो भेद कहे गये हैं—एकका नाम धारणा और दूसरेका नाम प्रतिभा और जिस प्रकार मनमें भी दो प्रकारकी क्रियाएँ प्रधानरूपसे होती हैं—एक प्राणमयकोषको सङ्गमें लेकर और दूसरी केवल मनकी सहायतासे। उसी मनोमय कोषके सम्बन्धसे जो प्राणकी क्रिया किसी जीवपिण्डमें

हो अर्थात् एकके मनोमय कोषका प्रतिबिम्ब दूसरे शरीरके मनोमय कोषपर पड़कर उसको आच्छन्न करे और ईश्वरकी इच्छाके अनुसार उधरके प्राणमय कोषमें क्रिया उत्पन्न करे उसको योगशास्त्रमें सम्मोहन (hypnotism) कहते हैं। पूर्व कहे हुए विज्ञानके अनुसार प्रधानतः जैसे मनकी क्रियाके दो भेद हैं और बुद्धिकी क्रियाके दो भेद हैं, उसी प्रकार अन्नमय कोषके भी दो भेद कहे जा सकते हैं। जब कहीं पीठकी उत्पत्ति हो वहांपर जब पीठकर्त्ताके मानसिक संस्कारके अनुसार कार्य हो वह एक प्रकारकी दशा है और जब वहां पीठकी स्वाधीनताके अनुसार कार्य हो वह दूसरे प्रकारकी दशा है। भेद इतना ही है कि पीठकर्त्ताकी इच्छाशक्तिके आधीन पीठ रहनेसे उसमें दैवी शक्तिका आविर्भाव नहीं होने पाता है और पीठकर्त्ता जब अपनी इच्छाशक्तिके अधीन पीठको नहीं रखता है और पीठ स्वाधीन रहता है, तब उक्त पीठमें दैवीशक्तिका आविर्भाव हो सकता है। पीठमें जब पीठकर्त्ताकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों काम करती हो तो स्वतः ही उसमें बाहरसे किसी दैवीशक्तिके आजानेका कोई अवसर नहीं रहता और पीठ-कर्त्ता अपने मनोमय और प्राणमय कोषकी सहायतासे उक्त पीठमें जैसा चाहे वैसा कार्य कर सकता है। यहां तक कि दैवजगत्के सञ्चालक देवतागणकी क्रियामें भी इस प्रकारसे बलात्कार किया जा सकता है। तन्त्रशास्त्रमें तथा अथर्ववेदमें इसी विज्ञानको अव-लम्बन करके मारण, वशीकरण, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक क्षुद्र सिद्धियोंका वर्णन किया गया है। उक्त क्षुद्र सिद्धियोंके मूलमें भी यही पीठविज्ञान विद्यमान है। यद्यपि उक्त सिद्धियोंके प्राप्त करनेके जो साधन हैं उनमें इस पीठविज्ञानका वर्णन कुछ भी नहीं पाया जाता है, परन्तु उस प्रकारके साधनमें जो जो क्रियाएँ वर्णित हैं उनसे इस प्रकारके पीठोंकी उत्पत्ति होजाती

है और इसी प्रकारसे एक केन्द्रसे दूसरे केन्द्रमें जाकर मारण, वशीकरण आदि क्रिया प्रकट होजाती है। वास्तवमें प्राणशक्तिके द्वारा ही ये सब कार्य हुआ करते हैं। पश्चिमी देशोंमें जो सम्मोहन (hypnotism) विद्या नयी निकली है, किसी किसी पाश्चात्य देशमें इस विद्याके सिखानेके लिये शिक्षालय भी स्थापित किया गया है, सो इन सब पश्चिमी विद्याओंके साथ आध्यात्मिक उन्नतिका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे भी ये लौकिक सिद्धिप्रद विद्याएँ इस पीठोत्पत्तिविज्ञानसे ही सम्बन्ध रखती हैं। इस सम्मोहन विद्याके द्वारा ऐसे अलौकिक कार्यसमूह होते हैं कि जिन असम्भव कार्योंको देखकर अति आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। उदाहरण-रूपसे कहा जाता है कि ऐसा बालक कि जो वृक्षपर चढ़ना कभी नहीं जानता है इस विद्याके प्रयोग द्वारा अति उच्च वृक्षपर चढ़ जाता है और अलौकिक कार्यसमूह भी करता है ऐसा देखा गया है। अदालतमें झूठी गवाही दिलानेका उदाहरण तो इस विद्याके द्वारा अनेक पाये गये हैं, जिनके अनेक मुकद्दमें अदालतमें मौजूद हैं।

प्राणविनिमय (Mesmerism) क्रिया एक अद्भुत रहस्यपूर्ण क्रिया है जिसकी शक्तियोंको देखकर दैवराज्यमें विश्वासरहित पश्चिमी विद्वान्गण भी चकित हुए हैं। इस विद्याके अनुसार पीठकर्त्ताको किसी दूसरे मनुष्यके मन और प्राणको अपनी ओर आकर्षित करना पड़ता है। सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा यह कार्य किया जाता है। हस्तचालन द्वारा प्राणशक्ति प्रयोग करके और मन्त्रोंकी सहायतासे प्राणशक्ति प्रयोग करके यह साधन किया जाता है और इस प्रकारके प्रयोगसे पीठकर्त्ता पीठोपयोगी पात्र या पात्री (medium) के शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है। पीठोत्पत्तिकी इस दशामें पूर्वकथित दो प्रकारके भेदके अनुसार दो

प्रकारके कार्य प्रायः देखनेमें आते हैं। पीठदशाप्राप्त पात्रमें या तो केवल वही क्रिया होती है जो पीठकर्त्ता इच्छा करे। इस दशामें वह पीठस्थ पात्र (medium) किसी प्रकारके देवता या उपदेवताके आवेशसे रहित रहता है। परन्तु यदि पीठकर्त्ता अपनी इच्छाशक्तिको उस प्रकारसे प्रयोग न करे तो पीठदशाप्राप्त पात्रमें आह्वान करनेसे परलोकगत आत्मा अथवा देवताओंका आवेश हो सकता है। परन्तु इस दशामें भय अनेक हैं। सनातनधर्मके याज्ञिक विज्ञानके अनुसार दिग्बन्ध द्वारा उस पीठकी सुरक्षा न होनेसे पीठकी इस स्वाधीन दशामें निम्न श्रेणीके देवता अथवा उपदेवता (प्रेत) आदिका आवेश उस पात्र पर हो जाना सर्वथा सम्भव है। इसी शैलीके रूपान्तरमें भारतवर्षकी अनेक शूद्र जातियोंमें प्रेत और क्षुद्र देवताओंके आवेश नर या नारियोंके देहमें करानेकी रीति भारतवर्षके अनेक देशोंमें अब भी प्रचलित है। यही कारण है कि इस प्राणविनिमय योगमें प्रथमतः सफलता दिखाई देनेपर भी फलतः अधिक कार्य्य होना प्रायः देखनेमें नहीं आता। पश्चिमी विद्वानोंने इस विद्याकी विशेष चर्चा की है और उन्होंने बहुतसे साधनोंके द्वारा प्रेतलोकके साथ अपना सम्बन्ध कर दिखाया है। परन्तु मन्त्रशास्त्रका अभाव, योगके आध्यात्मिक लक्ष्यका अभाव और दिग्बन्ध द्वारा पीठकी सुरक्षाकी शैलीका अभाव होनेसे इस विद्याके द्वारा दैवराज्यके साथ वे सम्बन्ध स्थापन करनेमें असमर्थ हुए हैं। तन्त्रशास्त्रमें जो इस विद्याका रहस्य बहुधा पाया जाता है सो बहुत ही उत्तम शैलीसे पूर्ण देखनेमें आया है। बटुक, कुमारी, योग्य-शिष्य या शिष्याके शरीरमें मन्त्रयोगकी सहायतासे पीठस्थापन करनेकी रीतियाँ तन्त्रोंमें वर्णित हैं। वे सब इसी पीठ विज्ञानके अन्तर्गत हैं। भेद इतना ही है कि पश्चिमी विद्या अमन्त्रक और अध्यात्म विज्ञानसे रहित है और तन्त्रोक्त यह शैली समन्त्रक,

अध्यात्मभावयुक्त और योगमार्गके क्रियासिद्धांशके अनुकूल है। इसी कारण शास्त्रोक्त साधनोंमें विघ्नकी सम्भावना कम है।

आर्य्यशास्त्रोक्त शवसाधन और चितासाधन आदिकी जो साधन-प्रणाली है सो भी इसी पीठविद्याके अन्तर्गत है। उसकी साधारण विधि यह है कि विशेष लक्षणयुक्त और विशेष जातिका शव जो विशेष काममें और विशेष रीतिसे मृत हुआ हो, ऐसे अखण्डित शवको स्थान विशेषमें ले जाकर दिग्बन्धादिसे दस दिशाओंकी रक्षा करते हुए शवमें विशेष क्रियाके द्वारा पीठोत्पत्ति की जाती है। प्राणमय कोषकी अतुलनीय शक्तिके द्वारा जब वह शव पीठरूपमें परिणित हो जाता है तब उस शवरूपी पीठमें साधक अपने इष्टदेव अथवा अन्य किसी उपास्य देवके आविर्भावका प्रयत्न करता है। अखण्डित और सद्योमृत शवके सब यन्त्रादि अवयव (organs) पूर्ण रहनेके कारण वह शव पीठ बनते ही जीवित मनुष्यकी नाईं क्रिया करने लगता है। उसके मुखसे वार्त्तालाप द्वारा अनेक दैव-रहस्य प्रकट हुआ करते हैं और साधकको अनेक सिद्धि भी प्राप्त हो सकती है। यह साधनप्रणाली बहुत ही उत्तम होनेपर भी इसमें भी विघ्न अनेक हो सकते हैं। यदि दिग्बन्ध ठीक न हो, यदि साधक आध्यात्मिक शक्तिके विचारसे दुर्बल हो, यदि साधक भयभीत हो जाय अथवा साधनका क्रियासिद्धांश असम्पूर्ण हो तो उस शवमें प्रेतादि उपदेवताका आवेश होना सम्भव है। शवमें पीठकी उत्पत्ति तो हो जायगी, परन्तु पीठकी सुरक्षा न होनेसे और साधकमें योग्यताकी कमी रहनेसे वह पीठ प्रेतोंके द्वारा आक्रान्त हो जायगा। जैसे कोई उत्तम स्थान होनेसे नागरिकगण वहां स्वयं उपस्थित होते हैं, ऐसे ही पीठकी उत्पत्ति होते ही पहले प्रेतादि उसमें आकृष्ट होते हैं। प्रेतोंमें विषयवासनाकी तीव्रता रहनेके कारण उनमें मनुष्योंके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेकी स्वाभाविक

इच्छा रहती है । यही कारण है कि पीठोंकी यदि सुरक्षा न हो तो उसमें प्रेतोंका आवेश होना स्वतःसिद्ध है । विशेषतः मनुष्यलोकके साथ ही प्रेतलोकका निकट सम्बन्ध रहनेके कारण उनका शीघ्र ही पीठमें आ जाना सुगम है । किसी स्थानमें यदि चण्डाल आदिका निवास हो वहाँ जिस प्रकार ब्राह्मणादि श्रेष्ठ मनुष्य जानेकी इच्छा नहीं करते हैं उसी प्रकार प्रेतादि द्वारा आक्रान्त पीठमें देवताओंका आना असम्भव है । जब प्रेत पीठमें आ जाता है तो नाना उपद्रव, मिथ्या जल्पना कल्पना आदि उस पीठ द्वारा हुआ करती है । परन्तु शास्त्रोक्तविधिके अनुसार पीठको शुद्धि और पीठस्थानकी सुरक्षा होनेपर और साधककी साधनप्रणालीकी योग्यता रहनेपर उस शवरूपी पीठमें दैवीशक्तिका आवेश हो जाता है इसमें सन्देह नहीं है । इस विषयमें शास्त्रीय प्रमाण । यथा—भावचूड़ामणिमें:—

शून्यागारे नदीतीरे पर्वते निर्जनेऽपि वा ।
बिल्वमूले श्मशाने वा तत्समीपे वनस्थले ॥
अष्टम्यांश्च चतुर्द्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि ।
भौमवारे तमिस्रायां साधयेत् सिद्धिमुत्तमाम् ।
माषभक्तश्च बल्यर्थं धूपदीपादिकं तथा ।
तिलाः कुशाः सर्षपाश्च स्थापनीयाः प्रयत्नतः ॥
यष्टिविद्धं शूलविद्धं खड्गविद्धं जले मृतम् ।
वज्रविद्धं सर्पदष्टं चाण्डालश्चाभिभूतकम् ॥
तरुणं सुन्दरं शूरं रणे नष्टं समुज्ज्वलम् ।
पलायनविशून्यन्तु संमुखे रणवर्त्तिनाम् ॥
धूपेन धूपितं कृत्वा गंधादिना विलिप्य च ।
कुशशय्यां परिष्कृत्य तत्र संस्थापयेच्छवम् ॥

द्वादशांगुलमानानि यज्ञकाष्ठानि दिक्षु च।
संस्थाप्य पूजयेत्तत्र क्रमादिन्द्रादिदेवताः॥

चलच्छवाद्भयं नास्ति भये जाते वदेत्ततः।
यत्प्रार्थय बलित्वेन दातव्यं कुञ्जरादिकम्॥

दिनान्तरे च दास्यामि स्वनाम कथयस्व मे।
इत्युक्त्वा संस्कृतेनैव निर्भयश्च पुनर्जपेत्॥

ततश्चेन्मधुरं वक्ति वक्तव्यं मधुरं ततः।
ततः सत्यं कारयित्वा वरञ्च प्रार्थयेत्ततः॥

शून्यगृह, नदीतीर, पर्वत, निर्जनस्थान, बिल्वमूल, श्मशान अथवा श्मशानसमीपस्थ वनप्रदेशमें शवसाधन करना चाहिये। कृष्ण अथवा शुक्लपक्षीय अष्टमी और चतुर्दशी तिथिमें मंगलवारकी रात्रिको शवसाधन करनेसे उत्तमा सिद्धि प्राप्त होती है। बलिके लिये माषभक्त और पूजाके लिये धूप, दीप, तिल, कुश और सर्षप रखना चाहिये। लाठी त्रिशूल अथवा खड्गके आघातसे जिसका प्राण छूटा हो, जलमें डूबकर वज्रपातसे अथवा सर्पदंशनसे जिसकी मृत्यु हुई हो इस प्रकारके चण्डालजातीय मनुष्यका शव साधनमें प्रशस्त है। शव तरुणवयस्क और सुन्दराङ्ग होना चाहिये। सम्मुख संग्राममें पलायन न करके जिसने प्राण दिया है ऐसा शव भी साधन कार्यमें प्रशस्त है। शवको धूपसे धूपित और गन्धादिकोंसे सुगन्धित करके कुशासन बिछाकर उसपर पूर्वकी ओर सिर करके स्थापन करना चाहिये। तदनन्तर जपस्थानकी दस दिशाओंमें द्वादश अंगुलिपरिमित अश्वत्थादि यज्ञीयकाष्ठ प्रोथित करके पूर्वादि क्रमसे इन्द्रादि दशदिक्पालोंकी पूजा करनी चाहिये। शवके हिलने-पर डरना नहीं चाहिये, यदि डर हो तो उसको कहना चाहिये कि "दिनान्तरमें कुञ्जरादि ईप्सित बलिप्रदान किया जायगा, अब अपना

नाम कहो।" ऐसा कहकर निर्भय हो पुनः जप करना चाहिये। तदनन्तर यदि मधुर शब्दसे शव बोलने लगे तो स्वयं भी मधुर शब्द बोलकर उसको प्रतिज्ञाबद्ध कराकर पश्चात् वर प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकारसे गुरूपदिष्ट प्रक्रिया द्वारा शवसाधनामें पीठकी उत्पत्ति की जाती है।

पीठोत्पत्तिके अन्य कई एक उपाय कई एक सम्प्रदायोंमें प्रचलित हैं जिनको पीठासन नामसे अभिहित कर सकते हैं। वर्तमान पाश्चात्य विद्वज्जनोंमें एक अमन्त्रक पीठासनकी शैली प्रचलित है जिसको अङ्गरेजी भाषामें (Table rapping) कहते हैं। इस साधनकी प्रक्रिया यह है कि, दो तीन पाँच अथवा ततोधिक व्यक्ति किसी पवित्र स्थानमें बैठकर एक त्रिपदयुक्त टेबल्के चारों ओर गोलाकारमें स्थित हो टेबल्पर अपने हाथ रखते हुए परस्परके हाथ स्पर्श करके एक ही ध्यानमें मग्न हो जाते हैं। तदनन्तर उस पीठासनमें चेतनशक्तिका आविर्भाव होकर उसमें स्वतः ही क्रियाकी उत्पत्ति हो जाती है और सङ्केतके द्वारा प्रश्नोत्तरका कार्य भी होने लगता है। इस साधनशैलीके द्वारा यूरोपके विद्वान्गण अनेक अलौकिक रहस्योंका आविष्कार कर रहे हैं। यूरोपके विद्वानोंमें यह विश्वास है कि, इस शैलीके द्वारा पीठ उत्पन्न करके प्रेत तथा परलोकगत सब प्रकारके आत्माओंको उस पीठमें बुलाया जा सकता है। इस प्रकारकी शैलीसे सफलता अति सुगम उपायके द्वारा ही देखनेमें आती है। तिपाईमें परिणत पीठके द्वारा तिपाई अपने आप हिलने लगती है और प्रश्न करनेपर सङ्केतके द्वारा उत्तर भी प्रकट होने लगता है। यहाँ तक चमत्कार होता है कि, उस पीठका स्पर्श किये हुए मनुष्योंमेंसे कोई मनमें यदि प्रश्न करे तो, उसका भी उत्तर मिलता है। पीठको स्पर्श करके बैठे हुए मनुष्योंको छूकर यदि कोई अन्य व्यक्ति मनमें प्रश्न करे तो उसका भी उत्तर मिलता

है। तिपाई इधरसे उधर चलने लगती है। यूरोपीय इस शैलीके अनुसार और भी कई प्रकारके यन्त्र देखनेमें आते हैं जिनमेंसे एक प्रकारके यन्त्रका नाम (planchet) है। ऐसे यन्त्रोंमें भी इसी शैली-के अनुसार प्राणमय क्रियाका प्रकट होना देख पड़ता है और उसमें भी पूर्वोल्लिखित सब कार्य होने लगते हैं। परन्तु भेद इतना ही है, कि इन सब अमन्त्रक कार्योंमें शास्त्रीय उपासनाविधिके अनुसार अथवा कर्मकाण्डकी शैलीके अनुसार पवित्रता सम्पादन और दिक्-बन्ध आदिकी रीति न रहनेसे पीठकी पवित्रताका अभाव हो जाता है और पवित्रताके अभावसे और पीठकी सुरक्षाके अभावसे ऐसे पीठोंमें दैवीशक्तियोंका आविर्भाव होना सुसाध्य नहीं है। यहां तक कि, ऐसे अमन्त्रक पीठोंमें केवल प्रेतादिकका आना ही प्रायः सम्भव है। यह शैली यूरोपकी भारतवर्षके लिये कोई नवीन नहीं है। इसी ढङ्गकी शैलियां भारतवर्षकी अशिक्षित प्रजामें अनेक रूपान्तरमें प्रचलित थीं और अब भी हैं। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, अब भी मारवाड़-प्रदेशकी स्त्रियोंमें एक ऐसी ही पीठोत्पत्तिकी शैली प्रचलित देखनेमें आती है। दो स्त्रियां परस्परके हाथोंको आड़े-टेढ़े (cross) ढङ्गसे परस्परमें पकड़ कर चारों हाथोंके बीचमें एक छोटा कुम्भ जलसे भरकर स्थापन करती हैं और पीठोत्पत्तिकारिणी दोनों स्त्रियोंके ध्यानस्थ हो बैठी रहने पर कुछ देरके बाद चारों हाथोंके साथ कुम्भका हिलना अनुभव करने लगती हैं और तद्-नन्तर हिलावके इशारेसे प्रश्नका उत्तर प्राप्त किया करती हैं। यूरोप-के (table-rapping) के साथ इस प्रणालीकी समानता है। इन सब शैलियोंको पीठासनकी शैली कह सकते हैं। ये सभी क्रियाएँ प्राणमय कोषकी सहायतासे ही प्रकट होती हैं।

यूरोप आदि पाश्चात्य देशोंकी पीठोत्पन्नकारी शैलियोंमेंसे एक शैली ऐसी है कि, जिसमें चार पांच या ततोधिक मनुष्य चक्राकार

होकर बैठते हुए आपसमें एक दूसरेका हाथ पकड़ते हुए एक ही ध्यानमें मग्न रहते हैं। ऐसा करनेपर कुछ देरके अनन्तर उक्त बैठे हुए मनुष्योंमेंसे एक व्यक्ति ज्ञानरहित हो जाता है और उस व्यक्तिमें किसी आत्माका आवेश हो जाता है। आवेश-प्राप्त वह व्यक्ति बहिर्ज्ञानशून्य होकर बोलने लगता है। ऐसी शैलीके भी अमन्त्रक शैली होनेसे ऐसी प्रणालीके द्वारा प्रेतादिकोंका आवेश होना अधिक सम्भव है। यूरोपकी यह शैली नवीन नहीं है। इसी प्रकारकी रूपान्तरित चक्रको शैली यूरोपीय फ्री मेशन आदि सम्प्रदायोंमें अति प्राचीनकालसे प्रचलित है। हिन्दूजातिमें इस प्रकारकी समन्त्रक अधिदैवभावसे भावित शैली तान्त्रिक सम्प्रदायमें चिरकालसे प्रचलित देखनेमें आती है। शक्ति-उपासकगणकी वामाचार उपासना-पद्धतिमें जो भैरवीचक्र, श्रीचक्र, ब्रह्मचक्र आदि सात प्रकारके चक्रकी विधि तन्त्रशास्त्रमें देखनेमें आती है सो इसी प्रकारके विज्ञानकी पोषक है। यूरोपीय शैलीसे यह तान्त्रिक शैली सर्व प्रकारसे अधिक उपकारी, अधिक भयरहित और आस्तिकतापूर्ण है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु कालप्रभावसे तन्त्रोक्त ये चक्रकी शैलियां अब लक्ष्यभ्रष्ट होकर बिगड़ गयी हैं।

तन्त्रोक्त इस विज्ञानको कुछ स्पष्ट करनेके लिये कहा जा सकता है कि इस प्रकारके तान्त्रिक उपासना-चक्रका एक अधीश्वर होता है जिसको चक्रेश्वर कहते हैं। उसी चक्रेश्वरके अधीन होकर तान्त्रिकगण एक उपासनाके उपयोगी स्थानमें उपस्थित रहकर साधन करते हैं। सप्त प्रकारके चक्रोंमेंसे किसी किसीमें केवल पुरुष और किसी किसी चक्रमें स्त्री-पुरुष उभयका समावेश रहता है। चक्रदीक्षासे दीक्षित पुरुष अथवा स्त्री-पुरुषगण चक्रेश्वरके अधीन रहकर एक ही उपास्य देवताकी उपासनामें तत्पर होते हैं। चक्रके समयमें चक्रकी सब क्रियाएँ उपासनाकी अङ्ग समझी जाती

हैं। चक्रमें प्रवृत्त सब व्यक्ति अपने अपने मनको केवल अपने उपास्य-देवताके चरणोंमें संलग्न रखते हैं। ऐसी दशामें वह चक्र वास्तवमें अधिदैव चक्ररूपमें परिणत हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है? ऐसे चक्रोंमें चक्राविष्ट देवताकी इच्छा अथवा आज्ञा प्रकट होनेकी दो शैलियाँ प्रायः शास्त्रमें पायी जाती हैं। यदि चक्रेश्वर उन्नत अधिकारका व्यक्ति हो तो वह स्वयं चक्रके लक्षणोंको देखकर ही फलाफल कह सकता है। दूसरी शैली यह है कि, चक्रमें प्रविष्ट यदि किसी स्त्री-पुरुषोंमें कोई आवेशको प्राप्त हो तो उससे प्रत्यक्ष-रूपसे जिज्ञासा द्वारा फलाफल निर्णय हो सकता है। ये सब शैलियाँ पीठ-विज्ञानके अनुसार प्राणमय कोषकी सहायतासे सुसम्पन्न हुआ करती हैं। तन्त्रशास्त्रोक्त इस चक्रकी शैली यदि यथाविधि अनुष्ठित की जाय तो इसमें प्रेतादिकोंका आवेश होना सम्भव नहीं है। हां, यदि काम-लोभादिके वशीभूत होकर ऐसी शास्त्रोक्त शैलीको अविधिपूर्वक करके साधकगण स्वयं ही निर-ङ्कुश होकर प्रेत-सदृश बन जायं तो, प्रेतावेश होना सम्भव ही है।

पीठ उत्पन्न करनेकी जितने प्रकारकी शैलियाँ हैं या हो सकती हैं उन सब शैलियोंमेंसे अपने अन्तःकरणके बलसे अपने ही शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेकी प्रणाली सबसे भयरहित, सबसे अधिक उप-योगी और सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण है। यूरोपके विद्वान्‌गण यद्यपि इस प्रणालीकी पूर्णताको ठीक ठीक समझ नहीं सके हैं, परन्तु वहांके जो उच्चाधिकारी हैं वे इसको Self Mesmerism कहते हैं और इस प्रणालीकी प्रशंसा करते हैं। यूरोपीय प्राण-विनिमय-शास्त्रके विद्वानोंमेंसे कोई कोई उच्चाधिकारी इसका थोड़ासा रहस्य कुछ कुछ अनुभव करके अपने शरीरपर कुछ कुछ क्रिया प्रकट कर सकते हैं—ऐसा उनके ग्रन्थोंसे प्रमाण मिलता भी है। परन्तु

यूरोपीय विद्वान्‌गण न तो हमारे दार्शनिक तत्त्वोंसे परिचित हैं और न हमारे अधिदैव-राज्यसे सुपरिचित हैं; इस कारण इस सर्वोत्तम शैलीकी पूर्णताको वे हृदयङ्गम करनेमें असमर्थ हैं, इसमें सन्देह नहीं। हमारे आर्यशास्त्रोंमें प्राणायाम द्वारा मनको निर्मल करके तदनन्तर नाना प्रकारके न्यासोंकी सहायतासे अपने शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेकी जो प्रणाली प्रचलित है; यद्यपि उसका ठीक ठीक रहस्य बहुत थोड़े उपासक ही जानते हैं; परन्तु विशुद्धान्तःकरण देवताकी कृपा, प्राणायाम और विभिन्न न्यासोंकी सहायतासे जो उपासकके द्वारा अपने शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेकी शैली तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्रमें कही गई है अथवा जिस क्रियाको उन्नत योगिगण बहुत सुगमतासे कर सकते हैं वह शैली सर्वोत्तम है, इसमें सन्देह नहीं है। इस अधिदैव रहस्यसे पूर्ण पीठ-विज्ञानके मूलमें सर्व-व्यापक भगवान्‌की सर्वव्यापक महाशक्तिकी अधिदैव सत्ता कैसे विद्यमान है सो हम पहले कह चुके हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्ड—दोनोंके एकही सम्बन्धसे सम्बद्ध होनेके कारण ब्रह्माण्डकी अधिदैव शक्ति पिण्डमें स्वतः ही सम्बन्धयुक्त रहती है। केवल सर्वव्यापक सूर्यशक्ति, अग्निमय होनेके कारण, वह सूर्यशक्तिकी अग्नि जैसे आतसी कञ्चकी सहायतासे ही केन्द्रीभूत होकर एक विशेष केन्द्रमें दाहिका शक्तिको उत्पन्न करती है ठीक उसी प्रकार अधिदैव भाव-मय भगवत्‌शक्ति उसी मनुष्यदेहमें प्रत्यक्षकार्य दिखाने लगती है जिस देहमें पीठोत्पत्ति हो जाती है। मनुष्यका अन्तःकरण भाव, वृत्ति, इन्द्रिय और विषयके सँयोगसे विषयवत् बना रहता है। इसीको योगिराज पतञ्जलिनेः—

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र।"

इस सूत्रसे वर्णन किया है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि,

साधारण मनुष्योंमें विषयका प्रभाव, इन्द्रिय और वृत्तिकी सहायतासे उन जीवोंके अन्तःकरणमें सर्वदा बने रहनेसे, सर्वसाधारण मनुष्यों का अन्तःकरण वैषयिक वृत्तिके रूपमें बना रहता है अर्थात् साधारण वैषयिक मनुष्य वैषयिक वृत्तियोंके पुञ्जरूप हैं इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि योगसाधनकी सहायतासे विज्ञानमय कोषको अपने स्थानपर स्थित रक्खा जाय तो, मलिन बुद्धि उत्पन्न न होनेसे मलिन बुद्धिके प्रभावसे मनोमय कोषपर जो दबाव पड़ता था सो नहीं पड़ेगा। प्राणायाम आदि साधनसे मनोमय कोषकी विशुद्धता स्थापित होगी। तब मन वृत्तिसारूप्यको छोड़कर निर्मल हो जायगा। दूसरी ओर नानाप्रकारके न्यासोंकी सहायतासे अन्नमय कोषकी पवित्रता बना दी जायगी और साथ ही साथ प्राणमय कोष-को पीठ उत्पन्न करनेके लिये उपयुक्त बना दिया जाय तो उस समय प्रकृति माताकी स्वाभाविक कृपासे वह योगी अपने प्राणमय कोषको विराट् प्राणमय कोषके साथ एक सम्बन्धसे सम्बद्ध करके अपने शरीरमें पीठ बनानेमें समर्थ हो जायगा। यही अलौकिक पीठ-विज्ञानका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य है।

पीठके विषयमें ऊपर जितनी बातें कही गई हैं उससे यही निर्णय होता है कि हिन्दुशास्त्रमें पाँच प्रकारके पीठ माने जाते हैं यथा—(१) उपासना पीठ—मन्त्रयोगोक्त सोलह दिव्य देशोंमें इस पीठकी स्थापना होती है। (२) पार्थिव पीठ—मन्दिर तीर्थ आदिमें इस प्रकार पीठकी उत्पत्ति होती है। नित्य नैमि-त्तिक रूपसे इस पीठके दो भेद हैं। काशी आदि नित्य तीर्थ जहाँ स्वभावतः दैवीशक्तिका विकाश रहता है, नित्य पीठ है। भक्त लोग अपनी श्रद्धा क्रियादि द्वारा जहां शक्तिका आकर्षण करते हैं वहां नैमित्तिक पीठ बनता है। (३) जीवयान्त्रिक पीठ—बालक बालिकओंके शरीरमें तथा नखदर्पण आदि क्रियाओंमें ऐसे पीठ

बनते हैं। (४) स्थूलयान्त्रिक पीठ—पीठासन, प्लैनचेट आदि इसके दृष्टान्त हैं। (५) नैसर्गिक पीठ जैसा कि गर्भाधानकालमें पीठ बनता है। यही आर्य्यशास्त्रमें वर्णित पांच प्रकारके पीठोंका दिग्दर्शन है।

श्रीविश्वनाथो जयति।

धर्मप्रचारका सुलभ साधन।

समाजकी भलाई ! मातृभाषाकी उन्नति !!

देशसेवाका विराट् आयोजन !!!

इस समय देशका उपकार किन उपायोंसे हो सकता है? संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे किसी चिन्ताशील पुरुषसे यह प्रश्न कीजिये, उत्तर यही मिलेगा कि, धर्मभावके प्रचारसे; क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है। भारतवर्ष किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधःपतित और दीन हीन दशामें क्यों पच रहा है? इसका भी उत्तर यही है कि, वह धर्मभावको खो बैठा है। यदि हम भारतसे ही पूछें कि, तू अपनी उन्नतिके लिये हमसे क्या चाहता है? तो वह यही उत्तर देगा कि, मेरे प्यारे पुत्रो! धर्मभावकी वृद्धि करो। संसारमें उत्पन्न होकर जो व्यक्ति कुछ भी सत्कार्य करनेके लिये उद्यत हुए हैं, उन्हें इस बातका पूर्ण अनुभव होगा कि, ऐसे कार्योंमें कैसे विघ्न और कैसी बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं। यद्यपि धीर पुरुष उनकी पर्वाह नहीं करते और यथासंभव उनसे लाभ ही उठाते हैं; तथापि इसमें सन्देह नहीं कि, उनके कार्योंमें उन विघ्नबाधाओंसे कुछ रुकावट अवश्य ही हो जाती है। श्रीभारतधर्ममहामण्डलके धर्मकार्य्यमें इस प्रकारकी अनेक बाधाएँ होनेपर भी अब उसे जनसाधारणका हित-साधन करनेका सर्वशक्तिमान् भगवान्ने सुअवसर प्रदान कर दिया है। भारत अधार्मिक नहीं है, हिन्दूजाति धर्म्मप्राण जाति है, उसके रोम रोममें धर्म्मसंस्कार ओतप्रोत हैं। केवल वह अपने रूपको, धर्मभावको, भूल रही है। उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करा देना-धर्मभावको स्थिर रखना ही श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है। यह कार्य्य २२ वर्षोंसे महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको अधिक सुअवसर मिलेगा, त्यों त्यों वह जोर शोरसे यह काम करेगा। उसका विश्वास है कि, इसी

उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्यसाधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना और (२) धर्म-रहस्य सम्बन्धीय मौलिक पुस्तकोंका उद्धार और प्रकाश करना। महामण्डलने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है, विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिकपत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रंथोंका आविष्कार करना, इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है; परन्तु अभी तक यह कार्य संतोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलने अब इस विभागको उन्नत करनेका विचार किया है। तदनुसार दस लाखके मूलधनसे भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड नामकी कम्पनी महामण्डलने स्थापित की है उसके द्वारा कमसे कम दो लाख मूलधन लगाकर पुस्तक प्रकाशनका कार्य प्रारम्भ हो गया है। महामण्डलने अपनी संरक्षकतामें परिचालित निगमागम बुकडिपो भी उक्त सिण्डिकेटको दे दिया है।

उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है; क्योंकि वक्ता एक दो वार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवाय सब प्रकारके अधिकोंरियोंके लिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकारकी पुस्तकें पढ़ेग और महामण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियोंके योग्य पुस्त निर्माण करेगा। सारांश, देशकी उन्नतिके लिये, भारत गौरवकी रक्षाके लिये और मनुष्योंमें मनुष्यत्व उत्पन्न करनेके लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभागको उक्त सेण्डिकेट द्वारा अधिक उन्नत करनेका विचार किया है और उसकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि, वे ऐसे सत्कार्य्यमें इसका हाथ बटावें एवं इस ज्ञानप्रचारक

कार्य्यमें इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेको प्रस्तुत हो जावें।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सहायतासे काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुदृश्यरूपसे यह ग्रन्थमाला निकलेगी। ग्रंथमालाके जो ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं उसकी नीचे सूची प्रकाशित की जाती है।

स्थिर ग्राहकोंके नियम।

(१) इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं:—

मंत्रयोगसंहिता (भाषानुवाद-सहित)	१)
हठयोगसंहिता ,,	॥)
भक्तिदर्शन (भाषाभाष्य सहित)	१)
योगदर्शन (भाषाभाष्य सहित नूतन संस्करण)	२)
दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग (भाषाभाष्यसहित)	१॥)
कल्किपुराण (भाषानुवाद सहित)	१)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत (नवीन संस्करण)	१)
उपदेश पारिजात (संस्कृत)	॥)
गीतावली	॥)
भारतधर्ममहामण्डल रहस्य (नूतन संस्करण)	१)
धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड	२)
,, द्वितीय खण्ड	१॥)
,, तृतीय खण्ड	२)
,, चतुर्थ खण्ड	२)
,, पञ्चम खण्ड	२)
,, षष्ठ खण्ड	१॥)
श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड (भाषाभाष्यसहित)	१)
गुरुगीता (भाषानुवाद सहित	।)
शम्भुगीता(भाषानुवादसहित)	॥।)
धीशगीता ,,	॥)
शक्तिगीता ,,	॥।)
सूर्य्यगीता ,,	॥)
विष्णुगीता ,,	॥।)
संन्यासगीता ,,	॥।)
रामगीता (भाषानुवाद और टिप्पणी सहित सजिल्द)	२॥)
आचारचन्द्रिका	॥)
नीति चन्द्रिका	॥)
धर्म्म चन्द्रिका	१)
साधन चन्द्रिका	१॥।)

(२) इनमेंसे जो कमसे कम ४) मूल्यकी पुस्तकें पूरे मूल्यमें खरीदेंगे अथवा स्थिरग्राहक होनेका चन्दा १) भेज देंगे उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होनेवाली सब पुस्तकें ¾ मूल्यमें दी जायँगी।

(३) स्थिर ग्राहकोंको मालामें ग्रथित होनेवाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी वह एक विद्वानोंकी कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

(४) हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालयसे अथवा जहां वह रहता हो वहां महामण्डलकी शाखा सभा हो तो वहांसे, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

(५) श्रीमहामण्डलकी जो धर्मसभा इस धर्म्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजनेकी कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग,
श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधानकार्य्यालय,
मार्फत भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड भवन
स्टेशनरोड जगत्गंज बनारस शहर।

इस विभाग द्वारा प्रकाशित समस्त धर्मपुस्तकोंका विवरण।

सदाचारसोपान। यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंके धर्म्म शिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। उर्दू और बंगला भाषामें इसका अनुवाद होकर छपचुका है और सारे भारतवर्षमें इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गयी है। इसकी आठ आवृत्तियाँ छप-चुकी हैं। अपने बच्चोंकी धर्मशिक्षाके लिये इस पुस्तकको हर एक हिन्दूको मँगवाना चाहिये। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान। कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुतही उपयोगी है। इस पुस्तककी बहुत कुछ प्रशंसा हुई है। इसका बंगला अनुवाद छप चुका है। हिन्दूमात्रको अपनी अपनी कन्याओंको धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक मंगवानी चाहिये। मूल्य -) एक आना।

धर्म्मसोपान। यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भली भांति होजाता है।

यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मंगावें। मूल्य ।) चार आना

ब्रह्मचर्य्यसोपान। ब्रह्मचर्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रंथकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ≡) तीन आना

साधनसोपान। यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छपचुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे ही इस पुस्तकको पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मू०≡)

शास्त्रसोपान। सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान। यह ग्रंथ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुत हितकारी है। मू० ≡) तीन आना।

राजशिक्षासोपान। राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है; परन्तु सर्वसाधारण-की धर्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। इसमें सनातन धर्म्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मू० ≡) तीन आना।

ऊपर लिखित सब ग्रन्थ धर्मशिक्षा विषयक हैं इस कारण स्कूल कालेज और पाठशालाओंको इकट्ठे लेनेपर कुछ सुबिधासे मिल सकेंगे और पुस्तक विक्रेताओंको इनपर योग्य कमीशन दिया जायगा।

मन्त्रयोगसंहिता। योगविषयक भाषानुवादसहित ऐसा अपूर्व्व ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छीतरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठा सकते

हैं। इसमें मंत्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है। घोर अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एक मात्र ग्रन्थ है। इसमें नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रुपया।

हठयोग संहिता। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधन प्रणाली आदि सब अच्छी तरह वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठा सकते हैं। मू० ।।।)

भक्तिदर्शन। श्रीशाण्डिल्य सूत्रोंपर बहुत विस्तृत हिन्दी भाष्यसहित और एक अति विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। हिन्दीका यह एक असाधारण ग्रन्थ है। ऐसा भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थ हिन्दीमें पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद्भक्तिके विस्तारित रहस्योंका ज्ञान इस ग्रन्थके पाठ करनेसे होता है। भक्तिशास्त्रके समझनेकी इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान्में भक्ति करनेवाले धार्मिकमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मूल्य १)

योगदर्शन। हिन्दीभाष्य सहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्व-वादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तजर्गत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारु रूपसे कर सकता है जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो। इस भाष्यके निर्माणमें पाठक उक्त विषयकी पूर्णता देखेंगे। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि जिससे पाठकोंको मनोनिवेश पूर्वक पढ़नेपर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी और ऐसा प्रतीत होगा कि महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमा-भ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माणकर दिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर तय्यार है इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है। मू० २)

दैवीमीमांसा दर्शन प्रथम भाग। वेदके तीन काण्ड हैं, यथाः—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड-का वेदान्त दर्शन, कर्मकाण्डका जैमिनी दर्शन और भरद्वाज दर्शन

और उपासनाकाण्डका यह अङ्गिरा दर्शन है। इसका नाम दैवी-मीमांसा दर्शन है। यह ग्रंथ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथाः—प्रथम रस पाद, इस पादमें भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टि पाद, तीसरा स्थिति पाद और चौथा लय पाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपासनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति और उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है। इस प्रथम भागमें इस दर्शन शास्त्रके प्रथम दो पाद हिन्दी अनुवाद और हिन्दी भाष्यसहित प्रकाशित हुए हैं। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

कल्किपुराण। कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है। वर्त-मान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिन्दी अनु-वाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्म्म जिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मूल्य १)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत। भारतका प्राचीन गौरव और आर्य-जातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय-संस्करण परिवर्द्धित और संस्कृत होकर छप चुका है। मूल्य १)

उपदेशपारिजात। यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्म्मके सब शास्त्रोंमें क्या विषय है, धर्म्मवक्ता होनेके लिये किन किन योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्म्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य हैं। मूल्य ॥) आठ आना

इस संस्कृत ग्रन्थके अतिरिक्त संस्कृत भाषामें योगदर्शन, सांख्य दर्शन, दैवीमीमांसादर्शन, आदि दर्शन सभाष्य, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, हरिहरब्रह्मसामरस्य, योगप्रवेशिका, धर्मसुधाकर, श्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थ छप रहे हैं और शीघ्रही प्रकाशित होनेवाले हैं।

गीतावली। इसको पढ़नेसे सङ्गीतशास्त्रका मर्म्म थोड़ेमें ही समझमें आसकेगा। इसमें अनेक अच्छे अच्छे भजनोंका भी

संग्रह है। सङ्गीतानुरागी और भजनानुरागियोंको अवश्य इसको लेना चाहिये। मूल्य ॥) आठ आना।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य। इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं, यथा—आर्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधि प्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञ साधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है। इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समान रूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़ तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १) एक रुपया।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमखण्ड। श्रीगीताजीका अपूर्व्व हिन्दी भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजतक श्रीगीताजी पर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता-विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रुपया।

तत्त्वबोध। भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्यकृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =) दो आना।

स्तोत्रकुसुमाञ्जलि मूल। इसमें पञ्चदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आज कलकी आवश्यकतानुसार धर्म्म स्तुति, गंगादि पवित्र खादोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मूल्य ।)

निगमागमचन्द्रिका। प्रथम और द्वितीय भागकी दो पुस्तकें धर्म्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकती हैं। प्रत्येकका मूल्य १) एक रुपया।

पहलेके पाँच सालके पाँच भागोंमें सनातनधर्म्मके अनेक गूढ़

रहस्यसम्बन्धी ऐसे २ प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें, वे इन पुस्तकोंको मँगावें। मूल्य पाँचों भागोंका २॥) रुपया।

मैनेजर, निगमागमबुकडिपो।
भारतधर्म सिण्डिकेट, भवन स्टेशनरोड
जगतगंज, बनारस (शहर)

सप्त गीताएं।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये पाँच गीताएँ-श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं सन्न्यासियोंके लिये सन्न्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवादसहित छप चुकी है। श्रीभारतधर्म-महामण्डलने इन सात गीताओंका प्रकाशन निम्नलिखित उद्देश्योंसे किया है:—१म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे ही अधर्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुँचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको अहंकारत्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहंकारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है, उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्तिकी चरितार्थता-के घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं, उनका समाजमें अस्तित्व न रहने देना तथा ३य, समाजमें यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इह-लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयसप्राप्तिकी अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएं उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु, अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक

वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा और वह परमशान्तिका अधिकारी हो सकेगा। सन्न्यास-गीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और सन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्न्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्म्म-ज्ञानका भाण्डार है। श्रीमहामण्डलप्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रन्थ आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु-शिष्य-लक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र, हठ, लय और राजयोगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रन्थ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंका उपकारी यह ग्रन्थ है। इसका अनुवाद बंगभाषामें भी छप चुका है। पाठक इन सातों गीताओंको मंगाकर देख सकते हैं, ये छप चुकी हैं। विष्णुगीताका मूल्य ।॥) सूर्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य ।॥) धीशगीताका मूल्य ॥) शंभुगीताका मूल्य ॥।) सन्न्यासगीताका मूल्य ॥।) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीन रंगा विष्णुदेव सूर्य्यदेव भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। इनके अतिरिक्त शम्भुगीतामें प्रकाशित वर्णाश्रमबन्ध नामक अद्भुत और अपूर्व्व चित्र भी सर्वसाधा-रणके देखने योग्य है।

धार्मिक विश्वकोष।

(श्रीधर्मकल्पद्रुम)

यह हिन्दुधर्म्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दू जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी ज़रूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी ज़रूरत एक ऐसे धर्म्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन-अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप

जिज्ञासुको भलीभाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म्म-महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजीने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृत-रूपसे दिये जायंगे। अबतक इसके छः खण्डोंमें जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं वे ये हैं:—धर्म्म, दानधर्म्म, तपोधर्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, महायज्ञ, वेद, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र (वेदोपाङ्ग) स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारीधर्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता), आर्यजाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म, आपद्धर्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन, आत्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व, ऋषि देवता और पितृतत्त्व, अवतारतत्त्व, मायातत्त्व, त्रिगुणतत्त्व, त्रिभावतत्त्व, कर्मतत्त्व, मुक्तितत्त्व, पुरुषार्थ और वर्णाश्रमसमीक्षा, दर्शनसमीक्षा, धर्मसम्प्रदायसमीक्षा, धर्मपन्थसमीक्षा और धर्ममत समीक्षा। आगेके खण्डोंमें प्रकाशित होनेवाले अध्यायोंके नाम ये हैं:—साधनसमीक्षा, चतुर्दशलोकसमीक्षा, कालसमीक्षा, जीवन्मुक्ति-समीक्षा, सदाचार, पञ्च महायज्ञ, आह्निककृत्य, षोडश संस्कार, श्राद्ध, प्रेतत्व और परलोक, सन्ध्या, तर्पण, ओंकार-महिमा और गायत्री, भगवन्नाम-माहात्म्य, वैदिक मन्त्रों और शास्त्रोंका अपलाप, तीर्थ महिमा, सूर्य्यादिग्रहपूजा, गोसेवा, संगीत-शास्त्र, देश और धर्मसेवा इत्यादि इत्यादि। इस ग्रन्थसे आज कलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थ रूपसे सनातनवैदिकधर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेश मात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दुशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आज कलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये

हैं, जिससे आज कलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसकी भाषा सरल, मधुर और गम्भीर है। यह ग्रंथ चौसठ अध्याय और आठ समुल्लासोंमें पूर्ण होगा और यह वृहत् ग्रन्थ रायल साइजके चार हजार पृष्ठोंसे अधिक होगा, तथा बारह खण्डोंमें प्रकाशित होगा। इसीके अन्तिम खण्डमें आध्यात्मिक शब्दकोष भी प्रकाशित करनेका विचार है। इसके छः खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २) द्वितीयका १॥), तृतीयके द्वितीय संस्करणका २), चतुर्थका २) पञ्चमका २) और षष्ठका १॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागज पर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। सातवाँ खण्ड यन्त्रस्थ है।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो,
भारतधर्मसिण्डिकेट भवन, स्टेशनरोड जगतगंज, बनारस (शहर)

श्रीरामगीता।

यह सर्व जीवहितकर उपनिषद् ग्रन्थ अबतक अप्रकाशित था। श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत 'तत्त्व सारायण' नामक एक विराट ग्रंथ है, उसीके अन्तर्गत यह गीता है। इसके १८ अध्याय हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं, १-अयोध्यामण्डपादिवर्णन, २-प्रमाणसारविवरण, ३-ज्ञान योगनिरूपण, ४-जीवन्मुक्तिनिरूपण, ५-विदेहमुक्तिनिरूपण, ६-वासनाक्षयादिनिरूपण, ७-सप्तभूमिकानिरूपण, ८-समाधिनिरूपण, ९ वर्णाश्रमव्यवस्थापन, १०-कर्मविभागयोगनिरूपण, ११-गुणत्रयविभाग-योगनिरूपण, १२-विश्वरूपनिरूपण, १३-तारकप्रणवविभागयोग, १४-महावाक्यार्थविवरण, १५-नवचक्रविवेकयोगनिरूपण, १६-अणिमादिसिद्धिदूषण, १७-विद्यासन्ततिगुरुतत्त्वनिरूपण, १८-सर्वाध्यायसङ्गतिनिरूपण। कर्म, उपासना और ज्ञानका अद्भुत सामञ्जस्य इस ग्रन्थमें दिखाया गया है। विषयोंके स्पष्टीकरणके लिये ग्रन्थमें ७ त्रिवर्ण चित्र भी दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—१ श्री राम, सीतामाता, वीर लक्ष्मण, २—श्री राम, लक्ष्मण और जटायु, ३—श्रीराम, सीता और हनूमान, ४—बृहत् श्रीराम-पञ्चायतन, ५—श्रीसीताराम, ६—श्रीरामपञ्चायतन, ७—श्रीराम

हनूमान् । इनके सिवाय इसके सम्पादक स्वर्गीय श्रीदरबार महारावल बहादुर डूँगरपुर नरेश महोदयका भी हाफ टोन चित्र छापा गया है । बढ़िया कागज पर सुन्दर छपाई और मजबूत जिल्दबन्दी भी हुई है। स्वर्गीय महारावल बहादुरने बड़े परिश्रमसे इस ग्रन्थका सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद किया है और उनके पूज्यपाद गुरुदेवने अति सुन्दर वैज्ञानिक टिप्पणियाँ लिखकर ग्रंथको सर्वाङ्ग सुन्दर बनाया है । ग्रन्थके प्रारम्भमें जो भूमिका दी गई है, उसमें श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रकी समालोचना अलौकिक रीति पर की गई है, जिसके पढनेसे पाठक कितनेही गूढ़ रहस्योंका परिचय पा जायंगे । आज तक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित न होनेसे यह अप्राप्य और अमूल्य है। आशा है, सर्व साधारण इसका संग्रह कर नित्यपाठ कर और इसमें उल्लिखित तत्वोंका चिन्तन कर कर्म, उपासना और ज्ञानके अद्भुत सामञ्जस्यका अलभ्य लाभ उठावेंगे और श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशक विभागको अनुगृहीत करेंगे । मूल्य २॥)

अंग्रेजी भाषाके धर्म्मग्रन्थ ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल-शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित सब संहिताओं गीताओं और दार्शनिक ग्रन्थोंका अंग्रेजी अनुवाद तयार हो रहा है जो क्रमशः प्रकाशित होगा । सम्प्रति अंग्रेजी भाषामें एक ऐसा ग्रन्थ छप गया है जिसके द्वारा सब अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियोंको सनातनधर्मका महत्त्व, उसका सर्वजीवहितकारी स्वरूप, उसके सब अङ्गोंका रहस्य, उपासनातत्त्व, योगतत्त्व, काल और सृष्टितत्त्व, कर्म्मतत्त्व, वर्णाश्रमधर्मतत्त्व इत्यादि सब बड़े बड़े विषय अच्छी तरह समझमें आ जावें। इसका नाम "वर्ल्डस इटरनल रिलिजन" है। इसका मूल्य रायलएडीशनका ५) और साधारणका ३) है । दोनोंमें जिल्द बंधी हुई है और सात त्रिवर्ण चित्र भी दिये हैं।

विविध विषयोंकी पुस्तकें ।

अलभ्यरमणी =) आनन्द रघुनन्दन नाटक ॥) आचारप्रबन्ध १) इङ्गलिशग्रामर ।) उपन्यास कुसुम ≡) कल्किपुराण उर्दू ॥) कार्तिकप्रसादकी जीवनी =) काशीमुक्ति विवेक ।-) गोवंशचिकित्सा ।) दुर्गेशनन्दिनी द्वितीय भाग ।=) धनुर्वेद संहिता ।) पारिवारिक प्रबन्ध १) प्रयाग-माहात्म्य ॥=) प्रवासी =) बारहमासी -) मानस

मञ्जरी ।) मङ्गलदेव पराजय =) रागरत्नाकर २) रामगीता ≡) वीरबाला ॥।) वैष्णवरहस्य)॥ शास्त्रीजीके दो व्याख्यान ॥=) सार-मञ्जरी ।) सिद्धान्तकौमुदी २) क्षत्रियहितैषिणी -)

नोट-पचीस रुपयोंसे अधिककी पुस्तक खरीदनेवालेको योग्य कमीशनी भी दिया जायगा ।

शीघ्र छपने योग्य ग्रन्थ--हिन्दी साहित्यकी पुष्टिके अभिप्रायसे तथा धर्मप्रचारकी शुभ वासनासे निम्नलिखित ग्रन्थ छापनेको तैयार हैं । यथाः-भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनके भाषाभाष्यका प्रथम खंड, सांख्यादर्शनका भाषाभाष्य, व्रतोत्सवचन्द्रिका नित्यकर्मचन्द्रिका ।

मैनेजर, निगमागम बुकडीपो
भारतधर्मसिण्डिकेटभवन, स्टेशनरोड जगत्गंज बनारस (शहर)

श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालय ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधानकार्य्यालय काशीमें साधु और गृहस्थ धर्मवक्ता प्रस्तुत करनेके अर्थ श्रीमहामण्डल उपदेशक महाविद्यालय नामक विद्यालय स्थापित हुआ है। इसमें उपयुक्त छात्रावास और छात्रवृत्तिका भी प्रबन्ध है जो साधुगण दार्शनिक और धर्मसम्बन्धी ज्ञानलाभ करके अपने साधु जीवनको कृतकृत्य करना चाहें और जो विद्वान् गृहस्थ धार्मिक शिक्षा लाभ करके धर्म-प्रचार द्वारा देशकी सेवा करते हुए अपना जीवन निर्वाह करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें ।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्ममहामण्डल, प्रधान कार्यालय,
जगत्गंज, बनारस (छावनी) ।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डलमें नियमित धर्मचर्चा ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल धर्मपुरुषार्थमें जैसा अग्रसर हो रहा है, सर्वत्र प्रसिद्ध है। मण्डलके अनेक पुरुषार्थोंमें 'उपदेशक महाविद्यालय' की स्थापना भी गणना करने योग्य है । अच्छे धार्म्मिक वक्ता इसमें निर्माण हुए, होते हैं और होते रहेंगे, ऐसा इसका प्रबन्ध हुआ है । अब इसमें दैनिक पाठ्यक्रमके अतिरिक्त यह भी प्रबन्ध

हुआ है कि, रात्रिके समय महीनेमें दस दिन व्याख्यान-शिक्षा, दस दिन शास्त्रार्थ-शिक्षा और दस दिन संगीत-शिक्षा भी दी जाया करे। वक्तृताके लिये संगीतका साधारण ज्ञान होना आवश्यक है और इस पंचम वेदका (शुद्ध संगीतका) लोप हो रहा है। इस कारण व्याख्यान और शास्त्रार्थ-शिक्षाके साथ संगीत-शिक्षाका भी समावेश किया गया है। सर्वसाधारण भी इस धर्मचर्चाका यथासमय उपस्थित होकर लाभ उठा सकते हैं।

निवेदक—सेक्रेटरी महामण्डल,
जगत्‌गंज, बनारस।

हिन्दू धार्मिक विश्वविद्यालय।
(श्री शारदामण्डल)

हिन्दूजातिकी विराट् धर्म्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलका यह विद्यादान विभाग है। वस्तुतः हिन्दूजातिके पुनरभ्युदय और हिन्दूधर्म्मकी शिक्षा सारे भारतवर्षमें फैलानेके लिये यह विश्व-विद्यालय स्थापित हुआ है। इसके प्रधानतः निम्न लिखित पाँच कार्य विभाग हैं।

(१) श्री उपदेशक महाविद्यालय (हिन्दू कालेज ओफ डिवि-निटी) इस महाविद्यालयके द्वारा योग्य धर्मशिक्षक और धर्मोपदे-शक तैयार किये जाते हैं। अंग्रेजी भाषाके बी० ए० पास अथवा संस्कृत भाषाके शास्त्री आचार्य्य आदि परीक्षाओंकी योग्यता रखने-वाले पण्डित ही छात्ररूपसे इस महाविद्यालयमें भरती किये जाते हैं। छात्रवृत्ति २५) माहवार तक दी जाती है।

(२) धर्मशिक्षाविभाग। इस विभागके द्वारा भारतवर्षके प्रधान प्रधान नगरोंमें ऊपर लिखित महाविद्यालयसे परीक्षोत्तीर्ण एक एक पण्डित स्थायीरूपसे नियुक्त करके उक्त नगरोंके स्कूल, कालेज और पाठशालाओंमें हिन्दूधर्म्मकी धार्मिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जाता है। वे पण्डितगण उन नगरोंमें सनातनधर्मका प्रचार भी करते रहते हैं। ऐसा प्रबन्ध किया जा रहा है कि जिससे महामण्डलके प्रयत्नसे सब बड़े बड़े नगरोंमें इस प्रकार धर्मकेन्द्र स्थापित हो और वहां मासिक सहायता भी श्रीमहामण्डलकीओरसे दी जाय।

(३) श्रीआर्य्यमहिलामहाविद्यालय भी इसी शारदामण्डलका अंग समझा जायगा और इस महाविद्यालयमें उच्च जातिकी विधवाओंके पालन पोषणका पूरा प्रबन्ध करके उनको योग्य धर्मोपदेशिका, शिक्षयित्री और गवर्नेस आदिके काम करनेके उपयोगी बनाया जायगा।

(४) सर्व्वधर्मसदन (हाल आफ आल रिलिजन्स) इस नामसे यूरोपीय महायुद्धके स्मारक रूपसे एक संस्था स्थापित करनेका प्रबंध हो रहा है। यह संस्था श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्य्यालय तथा उपदेशक महाविद्यालयके निकट ही स्थापित होगी। इस संस्थाके एक ओर सनातन धर्मके अतिरिक्त सब प्रधान प्रधान धर्ममतोंके उपासनालय रहेंगे जिनमें उक्त धर्म्मोंके जाननेवाले एक एक विद्वान् रहेंगे। दूसरी ओर सनातनधर्मके पञ्चोपासनाके पाँच देवस्थान और लीलाविग्रह उपासना आदिके देवमन्दिर रहेंगे। इसी संस्थामें एक वृहत् पुस्तकालय रहेगा कि जिसमें पृथिवी भरके सब धर्ममतोंके धर्मग्रंथ रक्खे जायँगे और इसी संस्थासे संश्लिष्ट एक व्याख्यानालय और शिक्षालय (हाल) रहेगा जिसमें उक्त विभिन्न धर्मोंके विद्वान् तथा सनातन धर्मके विद्वान्गण यथाक्रम व्याख्यानादि देकर धर्मसम्बन्धीय अनुसन्धान तथा धर्मशिक्षा—कार्य्यकी सहायता करेंगे। यदि पृथिवीके अन्य देशोंसे कोई विद्वान् काशीमें आकर इस सर्वधर्मसदनमें दार्शनिक शिक्षा लाभ करना चाहेगा तो उसका भी प्रबन्ध रहेगा।

(५) शास्त्रप्रकाशक विभाग। इस विभागका कार्य स्पष्ट ही है। इस विभागसे धर्मशिक्षा देनेके उपयोगी नाना भाषाओंकी पुस्तकें तथा सनातनधर्मकी सब उपयोगी मौलिक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं और होंगी।

इस प्रकारसे पाँच कार्य्यविभाग और संस्थाओंमें विभक्त होकर श्रीशारदामण्डल सनातनधर्मावलम्बियोंकी सेवा और उन्नति करनेमें प्रवृत्त रहेगा।

प्रधान मंत्री

श्रीभारतधर्म महामण्डल,

प्रधान कार्यालय, बनारस।

आर्यजातिकी वास्तविक उन्नति ।

अनन्तकालसे यह आर्य्यजाति अपने स्वरूपमें विद्यमान है। इस जातिके देखते देखते पृथिवीकी कितनी ही मनुष्य जातियाँ थोड़े समयमें ही कालसमुद्रमें डूबकर अपनी सत्ता खो बैठीं। इसकी निद्रावस्थामें ही कितनी जातियाँ आईं और कितनी चली गईं और यह अबतक भी इस घोर कलिकालमें अपनी रक्षा करती चली जा रही है—इसका कारण केवल शिक्षा है। पहले इस जातिकी शिक्षा-प्रणाली ऐसी सुधरी हुई थी कि, यवनकालमें सैकड़ों हृदयविदारक घोर अत्याचार होनेपर भी इसका बाल बांका नहीं हो सका। परन्तु आश्चर्य्य है कि, आज अनायास ही यह जाति विजातीय धारा-प्रवाहमें बहती चली आ रही है। वास्तविकमें किसी जातिका रहना या न रहना उसकी शिक्षा ही पर निर्भर है। शिक्षाके ही प्रभावसे विदेशीय अनेक जातियोंकी सत्ता नष्ट हो चुकी है,—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाश्चात्य इतिहास दे रहा है। आजकल भी जो यह जाति विदेशीय प्रवाहमें बहती है, विचार करनेपर पता लगेगा कि, इसका कारण भी शिक्षा ही है। आर्य्यजातिके दुर्भाग्य-वश किसी स्कूल-कालेज, हिन्दी या संस्कृत विद्यालय कहीं भी इस धर्मप्राण आर्य्यजातिकी धार्मिकशिक्षाका प्रबन्ध कुछ भी नहीं है। यह सौभाग्यकी बात है कि, श्रीभारतधर्ममहामण्डल, स्कूल कालेजों-में आर्य्यजातिको धार्मिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध कर रहा है। इसके लिये उपयुक्त ग्रंथ अंग्रेजी, हिन्दी और अन्यान्य भाषाओंमें भी तैयार कर चुका है। निम्नलिखित पुस्तकें कालेज, स्कूल, हिन्दी और संस्कृत पाठशालाओंमें धर्मशिक्षा देनेके लिये कैसी पर्याप्त हैं, सो निम्नलिखित सूचीके पाठ करनेसे ही विदित होगा।

(१) वर्ल्डस इटरनल रिलिजन—यह सम्प्रति अंग्रेजी भाषामें एक ऐसा ग्रन्थ छप गया है, जिसके द्वारा सब अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियोंको सनातनधर्मका महत्त्व, उसका सर्वजीव हितकारी स्वरूप उसके सब अङ्गोंका रहस्य, उपासनातत्त्व, योगतत्त्व, काल और सृष्टि-तत्त्व, कर्मतत्त्व, वर्णाश्रमधर्मतत्त्व इत्यादि सब बड़े २ विषय अच्छी तरह समझमें आ जावेंगे। इसका मूल्य राजसंस्करणका ५) और

साधारण संस्करणका ३) है। अंग्रेजी भाषामें आजतक सनातनधर्मका कोई भी ग्रंथ ऐसा प्रकाशित नहीं हुआ था। ८ त्रिवर्ण चित्र भी इसमें दिये गये हैं।

(२) प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत---यह पुस्तक प्रकाशित हो गयी। नामसे ही इसका गुण प्रकाशित है। मूल्य २)

(३) साधनचन्द्रिका---इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षिप्त परन्तु अति सुन्दर वर्णन किया गया है।

मूल्य १॥)

(४) शास्त्रचन्द्रिका---यह ग्रन्थ हिन्दुशास्त्रोंकी बातें दर्पणवत् प्रकाशित करनेवाला है। [यन्त्रस्थ]

(५) धर्मचन्द्रिका---एन्ट्रेन्स क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्म-पुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूप-वर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्य्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्म-विज्ञान, सन्ध्या, पञ्च महायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोडश संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। इस ग्रन्थके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे।

मूल्य १)

(६) नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत---भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और सुन्दर होकर छप चुका है।

मूल्य १)

(७) आचारचन्द्रिका---यह भी स्कूलपाठ्य सदाचार-सम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। इसमें प्रातः कालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किसलिये प्रत्येक हिन्दुस्तानीको अवश्य पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचारसे प्रत्येक आचार पालनका

वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। मूल्य ॥)

(८) नीतिचन्द्रिका---इस ग्रन्थमें नीतिकी मार्मिक बातोंका भली भाँति वर्णन किया गया है। बीच २ में संस्कृत श्लोकोंके हिन्दी भाषामें मनोहर अनुवाद भी दिये गये हैं। मूल्य ॥)

(९) चरित्रचन्द्रिका---इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं।

[१०] धर्म्मसोपान-- यह धर्म्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इसमें धर्मका साधारण ज्ञान भली भाँति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध, स्त्री, पुरुष सबके लिये बहुत ही उत्तम है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मँगावें। मूल्य ।) चारआना।

[११) धमप्रश्नोत्तरी—सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अति संक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भली भाँति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अति सरल है। कागज और छपाई बढ़ियाँ होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

[१२] सदाचारसोपान—यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंके धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। उर्दू और बंगला भाषामें इसका अनुवाद होकर छपचुका है और सारे भारतवर्षमें इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गई है। इसकी पांच आवृत्तियाँ छपचुकी हैं। अपने बच्चोंकी धर्मशिक्षाके लिये इस पुस्तकको हर एक हिन्दूको मँगवाना चाहिये। मूल्य =)

पता—

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो

भारतधर्म सिंडिकेट भवन, स्टेशनरोड, जगतगञ्ज, बनारस।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके सभ्यगण और मुखपत्र ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशीसे एक हिन्दी भाषाका और दूसरा अंग्रेजी भाषाका, इस प्रकार दो मासिक-पत्र प्रकाशित होते हैं, एवं श्रीमहामण्डलके अन्यान्य भाषाओंके मुखपत्र श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय कार्य्यालयोंसे प्रकाशित होते हैं। यथाः-फिरोजपुर (पञ्जाब) के कार्य्यालयसे उर्दू भाषाका मुखपत्र और मेरठ और कानपुरके कार्य्यालयोंसे हिन्दी भाषाके मुखपत्र ।

श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं, यथाः-स्वाधीन नरपति और प्रधान प्रधान धर्म्माचार्य्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े ज़मींदार, सेठ, साहुकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं, विद्यासम्बन्धी कार्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्म-कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल, प्रान्तीयमण्डल और शाखासभाओंको धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्म्मप्रचार करनेवाले साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पाँच श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं जो हिन्दुमात्र हो सकते हैं। हिन्दु कुलकामिनीगण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक सभ्या और साधारणःसभ्या हो सकती हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय मण्डल, शाखा सभा और संयुक्त सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी भाषाका मासिकपत्र विना मूल्य दिया जाता है। नियमितरूपसे नियत वार्षिक चन्दा २॥) दो रुपये आठ आने आमदनी देनेपर हिन्दू नरनारी साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको विना मूल्य मासिकपत्रिकाके अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारियोंको समाज हितकारी कोषके द्वारा विशेष लाभ मिलता है।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधानकार्य्यालय ।

जगत्गंज, बनारस ।

आर्यमहिलामहाविद्यालयकी नियमावली ।

(१) आर्यमहिलाओंमें तथा हिन्दू-अन्तःपुरोंमें सनातनधर्मका प्रचार, आर्यसदाचारका विस्तार, धर्मशिक्षादान और स्वदेश तथा स्वजातिप्रेमकी जागृतिके उद्देश्यसे धर्मप्रचारिकाएँ, शिक्षयित्रियां और बालप्रतिपालिकाएँ (Governess) प्रस्तुत करनेके लिये श्रीकाशीपुरीमें यह आर्यमहिलामहाविद्यालय स्थापित रहेगा ।

(२) वर्णाश्रमको माननेवाली ब्राह्मण तथा उच्च जातिकी विधवायें इस महाविद्यालयमें भर्त्ती की जायँगी । विशेष कारण होनेपर उच्चकुलकी सधवा, अथवा कुमारी स्त्रियां भी भर्त्ती की जायँगी ।

(३) इस महाविद्यालयसे संरक्षित एक विधवाश्रम रहेगा । जिसमें साधारणतः उच्चजातिकी विधवायें अर्थात् जिस जातिमें विधवाविवाह अधर्म समझा जाता है, ली जायँगी । यह विधवाश्रम आर्यमहिलामहाविद्यालयका पोषक भी समझा जायगा । इसमें साधारण तौरपर हिन्दी भाषा, धर्म तथा शिल्पादिकी शिक्षा दी जायगी ।

(४) विशेष विभाग, जो कि नं० १ और २ के अनुसार स्थापित किया जायगा, उसमें भर्त्ती होनेकी योग्यता निम्नलिखित होगीः—

(क) धर्मप्रचारिकी-श्रेणीमें केवल ब्राह्मण-विधवायें ली जायंगी ।

(ख) शिक्षयित्री-श्रेणी तथा बालप्रतिपालिका-श्रेणीमें सब उच्चजातिकी विधवायें ली जा सकेंगी, जिनमें विधवाविवाहका होना अधर्म समझा जाता है ।

(ग) इस विशेष विभागमें भर्त्ती होनेवाली सब आर्यमहिलाओंको एक विशेष धर्मप्रतिज्ञा पत्रपर दस्तखत करके आजीवन धर्म और देशसेवाके व्रतको धारण करना होगा ।

(घ) किसी प्रादेशिक भाषा अथवा हिन्दीमें कुछ ज्ञान पहलेसे रहना आवश्यक होगा । संस्कृतका बोध रहे, तो वह आदरणीय होगी ।

(ङ) महाविद्यालयमें जबतक उक्त विधवायें पढ़ेंगी, तबतक उनको महाविद्यालय तथा आर्यमहिलामहापरिषद्की नियमावली माननी होगी और पाठ समाप्त करके धर्मकार्य करनेके समय श्रीभारतधर्ममहामण्डल तथा आर्यमहिलामहापरिषद्के नियम और उपनियमोंके अनुसार उनको कार्य करना होगा।

(५) विधवाश्रममें केवल भोजन वस्त्रके लायक सहायता दी जायगी और विशेष विभागमें योग्यतानुसार ८) से २०) तक मासिक वृत्ति दी जायगी। जबतक वे परीक्षाकोटिमें रहेंगी, तब तक इससे कम वृत्ति दी जायगी।

(६) महाविद्यालयकी पाठ समाप्तिके अनन्तर जो महिलाएं केवल स्वधर्म, स्वजाति और स्वदेशकी सेवाके लिये प्रधान कार्यालय काशीमें रहकर शुभ धर्मव्रतका पालन करेंगी, उनके आजीवन तीर्थवासका तथा उनका अन्यान्य सब खर्च सभा उठावेगी और जो महिलाएं परीक्षोत्तीर्ण होनेके बाद बाहर वेतन लेकर कार्य करना चाहेंगी, उनके लिये योग्य वेतनपर कार्य ढूंढ़ कर दिया जायगा

(७) विधवाश्रममें रहनेका कोई समय नियत नहीं रहेगा। परन्तु महाविद्यालयमें शिक्षाका समय तीन वर्षसे सात वर्ष तकका होगा। उच्चशिक्षा चाहनेवाली आर्यमहिलाओंको और भी अधिक समय दिया जा सकेगा।

(८) विद्या, धर्मसेवा और कार्य्यपटुता आदि गुणावलीके विचारसे परीक्षोत्तीर्ण आर्यमहिलाओंको श्रीभारतधर्ममहामण्डलसे मानपत्र अथवा विद्या वा धर्मको उपाधि दिलाकर उत्साहित किया जायगा।

(९) महाविद्यालयकी आर्य्यमहिलाओंको सदाचार पालन, मर्यादापालन और धर्मव्रत पालनके विशेष विशेष नियमोंको पालन करना होगा। अवश्य ही ये सब नियम वर्णाश्रममर्यादा, स्वकुलमर्यादा और अपनी अपनी उपासना मर्यादाके विरुद्ध नहीं होंगे।

(१०) महाविद्यालयकी विद्यार्थिनियां महाविद्यालयके छात्रीनिवासमें रह सकेंगी, विधवाश्रममें रह सकेंगी अथवा काशीमें अन्यत्र भी रह सकेंगी।

(११) सब विद्यार्थिनियोंको नियमित रूपसे व्याख्यानश्रेणी, बैठकर परस्पर धर्मजिज्ञासाश्रेणी और सङ्गीत श्रेणीमें अवश्य शिक्षालाभ करना होगा।

(१२) हिन्दी भाषामें योग्यता लाभ करना सबके लिये अवश्य कर्त्तव्य होगा।

(१३) महाविद्यालयकी साधारण शिक्षापद्धतिमें निम्नलिखित विषय होंगे, अर्थात् प्रथमावस्थामें सबको निम्नलिखित विषयोंमें शिक्षालाभ करना होगाः—

(क) संस्कृत भाषा शिक्षा।
(ख) हिन्दी भाषा शिक्षा।
(ग) अंग्रेजी भाषाकी साधारण शिक्षा।
(घ) वक्तृताके द्वारा साधारण इतिहास शिक्षा।
(ङ) नकशेपर भूगोलकी साधारण शिक्षा।
(च) अङ्क शास्त्रकी साधारण शिक्षा।
(छ) धर्म सम्बन्धीय शिक्षा।
(ज) सङ्गीत विद्याकी साधारण शिक्षा।
(झ) नित्य कर्म उपासनादिकी शिक्षा।
(ञ) चिकित्सा विद्याकी साधारण शिक्षा।
(ट) देशकाल ज्ञानकी मौखिक शिक्षा।

(१४) महाविद्यालयकी विशेष शिक्षा पद्धतिमें निम्नलिखित विषय होंगेः—

(क) धर्मप्रचारिका विभागमें सप्त दर्शनोंकी शिक्षा, सब प्रकारके योगसाधनकी साधारण शिक्षा, वक्तृता देनेकी, बैठकर धर्म सिद्धान्त निर्णयकी विशेष शिक्षा और धर्मशास्त्रकी शिक्षा दी जायगी।

(ख) शिक्षयित्री विभागमें पढ़ानेकी शैलीकी शिक्षा, कारीगरी और शिल्प आदिकी शिक्षा, सङ्गीत शास्त्रकी शिक्षा, हिन्दी, संस्कृत और अंगरेजी भाषाओंकी विशेष शिक्षा और धर्मशास्त्रादिकी विशेष शिक्षा दी जायगी।

(ग) बालप्रतिपालिका (Governess) विभागमें ऊपर लिखित 'ख' विभागके सब विषयोंकी शिक्षा देनेके अतिरिक्त बालक

बालिकाओंके लालन पालन करनेकी रीतिकी शिक्षा, पाकप्रणालीकी विशेष शिक्षा, चिकित्सा विद्याकी विशेष शिक्षा, आचार तथा रीतिनीतिकी शिक्षा और अन्यान्य गृहकर्मकी शिक्षा दी जायगी।

(१५) व्याख्यान श्रेणीके साथ ही साथ ऐसा प्रबन्ध रहेगा कि, मौखिक उपदेश द्वारा महाविद्यालयकी आर्य्यमहिलाओंको नाना आवश्यकीय विषयोंकी शिक्षा दी जायगी।

(१६) सबको नियमित उपासना और योगादिका अधिकारानुसार शिक्षालाभ तथा अनुष्ठान करना होगा।

"आर्यमहिला"के नियम।

१—श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी-महापरिषद्की मुखपात्रकाके रूपमें आर्य्यमहिला प्रकाशित होती है।

२—महापरिषद्की सब प्रकारकी सभ्या महोदयाओं और सभ्य महोदयोंको यह पत्रिका विना मूल्य दी जाती है। अन्य ग्राहकोंको ६) वार्षिक अग्रिम देनेपर प्राप्त होती है। प्रति संख्याका मूल्य १॥) है।

३—पुस्तकालयों (पब्लिक लाइब्रेरियों), वाचनालयों (रीडिंगरूमों) और कन्यापाठशालाओंको केवल ३) वार्षिक मूल्यमें दी जाती हैं।

४—योग्य लेखकको तथा लेखिकाओंको नियत पारितोषिक दिया जाता है और विशेष योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको अन्यान्य प्रकारसे भी सम्मानित किया जाता है।

५—हिन्दी लिखनेमें असमर्थ मौलिक लेखक लेखिकाओंके लेखोंका अनुवाद कार्यालयसे कराकर छापा जाता है।

पत्र व्यवहार सम्पादक 'आर्य्यमहिला' के नाम करना चाहिये।

भारतधर्म प्रेस ।

मनुष्योंकी सर्वाङ्गीण उन्नति लिखने पढ़नेसे होती है। पहले समयमें शिक्षा-प्रचारका कोई सुलभ साधन नहीं था। परन्तु वर्तमान समयमें शिक्षा-वृद्धिके जितने साधन उपलब्ध हैं, उनमें प्रेस सबसे बढ़ कर है।

सनातन धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये भी इस साधनका अवलम्बन करना उचित जानकर श्रीभारतधर्ममहामण्डलने निजका

भारतधर्मनामक प्रेस।

खोल कर भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड नामक कम्पनीको जो १० दस लाखके मूलधनसे महामण्डलने हो स्थापित की है दे दिया है। इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, और उर्दूका सब प्रकारका काम उत्तमतासे होता है। पुस्तक, पत्रिकायें, हेंडबिल, लेटरपेपर, वालपोस्टर्ड, चेक, बिल, हुण्डी, रसीदें, रजिस्टर, फार्म आदि छपवाकर इस प्रेसकी छपाईकी सुन्दरताका अनुभव कीजिये।

पत्र व्यवहार करनेका पताः-

मैनेजर भारतधर्म्म प्रेस,

भारतधर्म सिण्डिकेट भवन,

स्टेशनरोड, जगतगंज बनारस (शहर)